MATRICULATION HINDI SELECTIONS

MATRICULATION
HINDI SELECTIONS

REVISED EDITION

REPRINT

PUBLISHED BY THE
UNIVERSITY OF CALCUTTA
1938

सूचीपत्र

गद्यांश

पृष्ठ

१। महारानी दमयन्ती—राजा शिवप्रसाद १

२। अंधेर-नगरी—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र १५

३। परीक्षा गुरु (भले बुरे की पहचान)—लाला श्रीनिवास दास २६

४। सौर जगत् की उत्पत्ति—पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ४४

५। हिन्दी क्या है—बाबू राधाकृष्णदास ५५

६। भगवान् श्रीकृष्ण—पं० पद्मसिंह शर्म्मा ६१

७। पुस्तकों की महिमा—उपाध्याय हरिश्चन्द्र शर्म्मा ७०

८। सज्जनताका दण्ड—श्रीप्रेमचन्द ८७

९। सर आशुतोष मुखोपाध्याय — लाला शिवनारायण लाल १०१

१०। सोज़न डल है—पं० रामनरेश त्रिपाठी ११५

११। घोड़ेकी जीवनी—पं० बेचन शर्म्मा 'उग्र' १२६

१२। रामायण (अयोध्याकाण्ड) के पात्रोंपर धर्म्म-संकट और उनका निर्वाह—पं० बलभद्र-प्रसाद मिश्र १४०

पद्यांश

		पृष्ठ
१।	चेतावनी—कबीर साहब	१
	उपदेश ,,	४
	काम ,,	१२
	क्रोध ,,	१२
	लोभ ,,	१३
	मोह ,,	१४
	अहङ्कार ,,	१५
२।	सुदामा-चरित—नरोत्तमदास	१६
३।	पार्वती-मंगल—तुलसीदास	२५
४।	वृन्दके दोहे—वृन्द	४२
५।	नीति-सामयिक उपदेश (कुण्डलियां)—गिरिधर कविराय	४८
६।	गंगा-गुण-गान—पदमाकर	५८
७।	महाराज दिलीप को नन्दिनी का वरदान देना—लाला सीताराम	६४
८।	रंक-रोदन—नाथूराम शंकर शर्म्मा	७८
९।	काश्मीर-सुखमा—श्रीधर पाठक	८५
१०।	रामस्तोत्र—बालमुकुन्द गुप्त	९०
	लक्ष्मीपूजा ,,	९२
	पिता ,,	९६
११।	मेरा नया बचपन—सुभद्रा कुमारी चौहाण	९९
	बालिका का परिचय ,,	१०४

गद्यांश

MATRICULATION HINDI SELECTIONS

महारानी दमयन्ती

[राजा शिवप्रसाद (सम्वत् १८८०—१९५२ वि०)—इन्होंने जिस समय (लगभग सं० १९०२) हिन्दी गद्य लिखना आरम्भ किया, उस समय कचहरियोंकी भाषा उर्दू हो चुकी थी। यह चाहते थे कि लिपि नागरी हो और भाषा ऐसी चलती ठेठ हिन्दी हो जिसमें सर्वसाधारणके बीच प्रचलित अरबी फारसी शब्दोंका भी प्रयोग हो, जिससे उर्दू पढ़े लिखे लोग विरोध न करें और सर्वत्र हिन्दीका प्रचार हो। इसी उद्देश्यसे इन्होंने मिश्रित हिन्दी लिखना आरम्भ किया। इन्होंने सैकड़ों पाठ्यपुस्तकें लिखीं और लिखवायीं। प्रारम्भमें जो पुस्तकें लिखीं वे थोड़ी संस्कृत मिली ठेठ और सरल हिन्दीमें थीं। उनमें वह उर्दूपन नहीं भरा था जो उनकी पिछली किताबोंमें दिखाई पड़ता है।]

विदर्भराज भीमसेन के एक बेटी थी, जिसका नाम दमयन्ती था। वह अत्यन्त रूपवती और गुणवती थी। उसके अनूप रूप गुणों की प्रशंसा दूर दूर तक फैल गई थी। जब वह व्याहने योग्य हुई, तब तत्कालीन राजाओं की प्रथा के अनुसार उसके विवाह के लिये स्वयंवर रचा

गया। स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिये दूर दूर से राजागण गये। जो राजा लोग स्वयंवर में गये, उनमें निषधदेशाधिपति वीरसेन के पुत्र राजा नल भी थे। राजा नल अति सुशील, धर्मात्मा एवं सर्वगुणसम्पन्न थे। जब जयमाल पहनाकर वर वरण करने का समय उपस्थित हुआ, तब दमयन्ती ने राजा नल के गुण और रूप पर मुग्ध होकर उनको वरण किया और राजा नल के साथ दमयन्ती का विवाह हो गया। बारह वर्ष तक वे दोनों बड़े आनन्द से रहे। इस बीच में उनके एक लड़का और एक लड़की हुई।

राजा नल को पांसे का खेल खेलने का दुर्व्यसन था। दुर्व्यसन इसलिये कि इस खेल से सदा लोगों का अनिष्ट होता आया है। इसी खेल के कारण भारत का गौरव और राज्यश्री नष्ट हुई। कौरवों और पाण्डवों के घोर और वीर-नाशकारी महायुद्ध का मुख्य कारण यही था। जहां पांसे रहते हैं, वहां से सुमति, स्नेह, प्रीति एवं सौजन्य स्वयं चल देते हैं। इसका प्रमाण राजा नल का वृत्तान्त है, जो आगे लिखा जाता है। राजा नल को एक भाई था, जिसका नाम पुष्कर था। उसी के साथ वे पांसे का खेल खेला करते थे। एक दिन ऐसा हुआ कि धीरे धीरे दांव लगाते हुए राजा नल सारा राज्य हार गये। एक धोती को छोड़ उनके पास कुछ भी न बचा।

अब दमयन्ती को साथ ले घर से निकले। दमयन्ती ने बुद्धिमानी का काम कर लड़के लड़की को पहिले ही अपने पिता के घर भेज दिया था। निष्ठुर-हृदय पुष्कर ने अपने राज्य में यह ढिंढोरा पिटवा दिया कि जो कोई राजा नल को अपने घर में आश्रय देगा, उसे प्राणदंड दिया जायगा।

राजा नल को तीन दिन और तीन रात अन्न तो अन्न, जल तक बिना पिये ही व्यतीत करने पड़े। अन्त में वे कन्द मूल एवं फलों से अपना और रानी का पेट भर दिन व्यतीत करने लगे। वन के संकटों को देख राजा नल ने दमयन्ती को समझा बुझाकर पिता के घर जाकर रहने का आग्रह किया, क्योंकि दमयन्ती बड़ी सुकुमारी थी। किन्तु दमयन्ती ने नल को ऐसे संकट में छोड़ कर स्वयं राजभवनों में रहना स्वीकार न किया और कहा—"प्राणनाथ! आपके मुख से ऐसा कठोर वचन क्योंकर निकला? आपका साथ छोड़कर पिता के घर में रहने से क्या मैं अधिक सुखी हो सकती हूं? क्या खाना पीना आप के दर्शन-सुख से बढ़कर है? आप भले ही मेरा त्याग कर दें, पर मैं आपका पल्ला नहीं छोड़ सकती। यदि आप फिर कभी मुझ से ऐसा कठोर वचन कहेंगे, तो मैं अपने प्राण तज दूंगी।" इतना कह दमयन्ती एक पेड़ के नीचे सो गई। किन्तु

राजा नल को नींद न आई। वह अपनी उपस्थित दशा पर विचार करते हुए मन ही मन में कहने लगे—'हा! जो दमयन्ती राजभवन में पुष्पशय्या पर पैर रखते भी शङ्कित होती थी, आज वही इस विकट वन के कंटकाकीर्ण दुर्गम पथों पर क्योंकर चल सकेगी? मुझे अपनी चिंता नहीं; किन्तु मुझ से दमयन्ती की दुर्दशा नहीं देखी जायगी। दुःख इस बात का है कि यह मेरा साथ छोड़ना नहीं चाहती। एक उपाय है। यदि मैं इसे इसी प्रकार सोती छोड़कर चल दूं तो यह किसी न किसी प्रकार अपने पिता के घर पहुंच जायगी।" इसी प्रकार सोच राजा नल अपने जी को कड़ा कर और दमयन्ती को वहां छोड़, एक ओर चल दिये। किन्तु चलने के पूर्व दमयन्ती की आधी साड़ी फाड़कर अपनी कमर में लपेट ली, क्योंकि वे अपनी धोती गंवा चुके थे। राजा नल ने चिड़िया पकड़ने के लिये उस पर अपनी धोती फेंकी थी, किन्तु चिड़िया उस धोती को लिये हुए उड़ गई थी। राजा नल चल तो दिये, पर उनसे रहा न गया। उस समय अपने जी की विकलता वही जानते थे। थोड़ी दूर जाकर वे दमयन्ती के देखने को फिर लौट आये, किन्तु कुछ सोच समझ कर वे वहां से फिर चल दिये।

इस प्रकार जब राजा नल दूर निकल गये, तब

दमयन्ती की नींद टूटी। राजा नल को अपने पास न देख, दमयन्ती का हृदय वेगपूर्वक धड़कने लगा और वह सिर धुन कर विलाप करने लगी। उसके नेत्रों से अविराम आंसुओं की धारा बह रही थी। बारम्बार मूर्छित हो भूमि पर गिरती थी और पुकार पुकार कर कहती थी—"हे प्राणप्यारे, मैंने कौन सा अपराध किया था जो मुझे अकेली इस निर्जन वन में छोड़कर आप चल दिये! क्या आप विवाह के समय की प्रतिज्ञा भूल गये? उस समय क्या आपने नहीं कहा था कि जीते जी हम तुमसे अलग न होंगे? महाराज, बहुत हुआ; अब विलम्ब न लगाइये। तुरन्त आकर इस अनाथा को सनाथा कीजिये।" दमयन्ती का करुण क्रन्दन सुन वन के जीव-जन्तु, चर-अचर तक विकल हुए।

जब राजा नल बहुत देर तक लौट कर न आये, तब उनके लौटने की आशा छोड़, दमयन्ती उठी और रोती बिलखती उस दुर्गम वन में चारों ओर घूमने लगी। इतने में अचानक उस पर एक अजगर ने आक्रमण किया और चाहा कि उसे निगल ले। किन्तु सौभाग्यवश दमयन्ती का चिल्लाना सुन एक बहेलिये ने आकर दमयन्ती को उस विपत्ति से उबारा और एक बाण से अजगर का काम

तमाम कर दिया। अजगर यदि दमयन्ती को निगल जाता तो वह सारे सांसारिक कष्टों से छुटकारा पा जाती; किन्तु अभी उसके भाग्य में अनेक कष्ट झेलने बदे थे, सो कर्म की गांठ इतनी जल्दी क्योंकर टूट सकती थी। वह बहेलिया दमयन्ती के लिये उस अजगर से कहीं बढ़कर कष्टदायी हुआ। तब अन्य उपाय न देख दमयन्ती ने सर्वव्यापी एवं सर्वान्तर्यामी भगवान् को स्मरण कर प्रार्थना की। दमयन्ती आर्त्तस्वर से कहने लगी—'हे दीनदयालु! हे अनाथों के नाथ! हे दयासिन्धु! हे अशरणशरण! हे वात्सल्यगुण-सागर! इस दुष्ट के हाथ से मेरी रक्षा कीजिये।' भगवान् बड़े बड़े दानी एवं यज्ञ करनेवाले राजा महाराजाओं की उपेक्षा भले ही कर डालें और उन्हें कर्मबंधन से मुक्त न करें, किन्तु दयामय भगवान् भक्तों के आर्तनाद की अवहेलना नहीं करते और भक्तों के कर्मबंधन तुरंत काट देते हैं। "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" का नियम भगवद्भक्तों के लिये नहीं है। यह नियम उन लोगों की उन्नति में बाधक है, जो अपने पुरुषार्थ पर निर्भर रहकर ज्ञान अथवा कर्म काण्ड द्वारा उसके समीप पहुंचने का प्रयत्न किया करते हैं। जैसे राजा के विशेष कृपापात्रों के लिये कोई नियम नहीं है, वैसे ही उन भगवद्भक्तों के लिये,

जिनको दयामय भगवान् ने अपना लिया है, कोई नियम नहीं। दमयन्ती की करुणा भरी प्रार्थना सुन, भगवान् का कोमल हृदय दया से आर्द्र हो गया और उन्होंने दमयन्ती के उद्धार का उपाय भी तुरन्त हो रच दिया।

जब बहेलिये ने देखा कि दमयन्ती मेरा कहना नहीं मानती, तब वह उस पर क्रुद्ध हुआ और दमयन्ती को मारने के लिये उसने बाण चलाया। पर वह बाण दमयन्ती के न लगा, उस पापी ही के लगा और वह जहां का तहां गिर गया और मर गया। तदनन्तर दमयन्ती हाथी, सिंह आदि बनैले हिंसक जन्तुओं से अपने आपको बचाती और अनेक पहाड़ों तथा जङ्गलों में भटकती सुबाहु नगर में पहुंची। वहां वह रानी के पास दासी बनकर समय व्यतीत करने लगी। संयोगवश उसे ढूंढ़ते हुए उसके पिता के भेजे ब्राह्मण सुबाहु नगर में जा निकले और उसे विदर्भ नगर को लिवा ले गये।

उधर राजा नल घूमते फिरते अयोध्या पहुंचे और अपना नाम बाहुक रख, वहां के राजा ऋतुपर्ण के सारथी बनकर रहने लगे। विदर्भ-राज ने राजा नल के ढूंढ़ने के लिये नगर नगर गांव गांव ब्राह्मण भेजे। उनमें से एक ब्राह्मण ने अयोध्या से लौटकर यह समाचार

सुनाया कि राजा ऋतुपर्ण का बाहुक नामक सारथी दमयन्ती का नाम सुनकर उदास हुआ और आंखों में आंसू भर लाया। बहुत पूछने पर भी उसने अपना विशेष परिचय नहीं दिया। यह सुनते ही दमयन्ती को निश्चय हो गया कि बाहुक बनकर राजा नल ही अयोध्या में दिन काट रहे हैं। दमयन्ती ने अपने पिता से कह कर राजा ऋतुपर्ण के पास एक संदेशा भेजा। वह यह था कि अब राजा नल के आने की आशा जाती रही; अतः दमयन्ती दूसरा वर वरण करेगी और इसके लिये दूसरी स्वयंवर सभा होगी। उस सभा में आप भी पधारें।

किन्तु स्वयंवर का दिन इतना समीप नियत किया कि राजा नल को छोड़ कोई भी इतने समय में घोड़े हांक कर अयोध्या से विदर्भ नगर में नहीं पहुंच सकता था। राजा नल अश्व-सञ्चालन विद्या में बड़े निपुण थे। जब राजा ऋतुपर्ण ने यह संवाद सुना, तब उनको बड़ी चिन्ता हुई कि इतने थोड़े समय में हम क्योंकर इतनी दूर पहुंच सकेंगे। यह बात सुनकर बाहुक नामधारी राजा नल ने नम्रतापूर्वक कहा कि आप चिन्ता न करें। मैं निर्दिष्ट दिन से पहले ही आपको विदर्भ नगर में पहुंचा दूंगा।

अन्त में बाहुक ने जैसा कहा था, वैसा ही किया।

निर्दिष्ट दिन के पूर्व ही राजा ऋतुपर्ण वहां पहुंच गये। राजा भीमसेन ने अयोध्या नरेश का बड़ा आगत स्वागत किया। किन्तु राजा ऋतुपर्ण वहां स्वयंवर की तैयारियां न देख और दूसरे किसी राजा के वहां पहुंचने की सूचना न पा अत्यन्त विस्मित और लज्जित हुए। बाहुक रथ को राजा भीमसेन की अश्वशाला में खोलकर स्वयं एक चारपाई पर विश्राम करने के लिये पड़ रहा। दमयन्ती ने अयोध्या-नरेश के आगमन की सूचना पाकर केशिनी नाम्नी अपनी एक चतुर सखी को राजा नल की टोह में अश्वशाला की ओर भेजा। नल को खाट पर पड़ा देख केशिनी ने उनसे कहा—दमयन्ती आपका कुशल संवाद पूछती है। नल ने बात उड़ाकर कहा—मैं अयोध्या-नरेश का सारथी हूं। बाहुक मेरा नाम है। राजा ऋतुपर्ण स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिये यहां पधारे हैं। उन्हें लेकर मैं यहां आया हूं। पर यह बड़े आश्चर्य की बात है कि राजा नल की भार्य्या दमयन्ती पतिव्रता होकर परपुरुष के साथ विवाह करना चाहती है! क्यों न हो! यह सब दिनों का प्रभाव है। मनुष्य के खोटे दिनों में जब निज शरीर तक उसका साथ नहीं देता, तब स्त्री और संतान का कहना ही क्या है। इस पर केशिनी ने कहा—

"हे बाहुक! क्या तुम राजा नल का भी कुछ हाल जानते हो? ज़रा सोचो, राजा नल ने दमयन्ती के साथ कैसा निष्ठुर व्यवहार किया! उस सोती हुई अबला को निर्जन वन में अकेली छोड़ न जाने वे किधर चल दिये! दमयन्ती को देखो, वह कैसी भली है कि इस पर भी उसने कुछ ध्यान न दिया और वह अन्न जल छोड़ कर सदा उनका नाम जपा करती है।

दमयन्ती का हाल सुन बाहुक से न रहा गया और उसकी आंखों से अश्रु प्रवाहित होने लगा। अन्त में बाहुक ने कहा—

स्त्री भले ही पति द्वारा सताई जाय, पर औरों के सामने उसे पति की बुराई करना उचित नहीं। दमयन्ती को कदाचित् यह बात नहीं मालूम कि यदि राजा नल दमयन्ती को वन में न छोड़ जाने, तो उनके प्राण बचना कठिन था। तिस पर भी यदि राजा नल से निर्दयता का कोई काम बन भी पड़ा हो तो दमयन्ती की शोभा इसी में है कि वे उनका अपराध क्षमा करें; क्योंकि दुःख पड़ने पर मनुष्य की बुद्धि का ठीक रहना कठिन है।

यह कह कर राजा नल उदास हुए और रोने लगे। केशिनी ने इसपर राजा नल से कुछ भी न

कहा और दमयन्ती से जाकर सारा हाल कहा। सुनते ही दमयन्ती को निश्चय हो गया कि बाहुक ही राजा नल हैं। दमयन्ती ने फिर केशिनी को राजा नल के पास भेजा और इस बार उसके साथ अपना लड़का और लड़की भी कर दी। उन दोनों को देख राजा नल के नेत्रों में आंसू भर आये और उन्हें छाती से लगा वे बोले—"ऐसे ही बेटा-बेटी मेरे हैं; बहुत दिनों से मैंने उन्हें नहीं देखा। इन्हें देख आज मुझे अपनी सन्तान का स्मरण हो आया। इन्हें ले जा और माता के पास कर आ। आज ये नल के अनाथ लड़के कल किसी दूसरे के कहलावेंगे। स्त्रियां ही धन्य हैं जो एक पति को छोड़कर दूसरा पति कर लेती हैं। कल मैं भी देखूंगा कि राजा नल की पतिव्रता स्त्री दमयन्ती किसको वरण करती है।

यह सुन केशिनी दमयन्ती के पास गई और जो देखा सुना था, सो उससे कहा। फिर वह बोली कि यह तो कोई विचित्र मनुष्य जान पड़ता है; क्योंकि रसोई का जितना सामान राजा ऋतुपर्ण के लिये भेजा गया था, उसने बात की बात में सब बना डाला। यह सुन दमयन्ती ने केशिनी को बाहुक के बनाये हुए सब सामान में से थोड़ा थोड़ा ले आने को फिर भेजा। केशिनी जाकर मांग लाई।

उसे चखते ही दमयन्ती का रहा सहा सन्देह दूर हो गया ; क्योंकि उन पदार्थों में वैसा ही स्वाद था, जैसा राजा नल के बनाये पदार्थों में होता था ।

तदनन्तर दमयन्ती अपनी माता के पास गई और बोली—"माता जी ! यदि आज्ञा हो तो मैं अश्वशाला में जाकर उनसे मिल आऊं ।" माता ने बेटी को तुरन्त आज्ञा दी । दमयन्ती तिस पर भी अकेली न गई और अपने साथ अपने बेटे बेटी को लेती गई । राजा नल को और उसके जर्जरित क्षीण काय को देख दमयन्ती रोने लगी । जब वह सावधान हुई, तब राजा नल से बोली—"प्राणनाथ ! मुझ अबला को आप बन में अकेली छोड़कर क्यों चल दिये थे ?" इस प्रश्न के उत्तर में लज्जित हो राजा नल ने कहा—

"क्या तुमको विश्वास है कि मैंने जान बूझ कर तुम्हारा साथ छोड़ा ? सच तो यह है कि जिस निर्बुद्धिता में पड़कर मैंने सारा राजपाट गंवाया, उसी के फेर में पड़ तुम्हारा भी विछोह हुआ ! तुम्हारे विछोह में मुझ पर जो बीती उसे मेरा यह शरीर ही जान सकता है! किन्तु जो पतिव्रता होती हैं, वे अपने स्वामी में अवगुण देखकर भी उसकी निन्दा नहीं करतीं । जाने भी दो ; अब इन बातों में क्या रखा है, क्योंकि कल तो तुम दूसरे की ही हो जाओगी ।"

दमयन्ती ने हाथ जोड़कर कहा—"आपको यहां बुलाने के लिये ही यह सारा जाल रचा गया था। क्या आपको विश्वास हो गया कि मैं दूसरे के साथ विवाह कर लूंगी? यदि ऐसा होता तो अकेले राजा ऋतुपर्ण ही को क्यों पत्र भेजा जाता? अन्य नरेश भी तो आज यहां आये होते। मैं तो अपने मन में ठान चुकी थी। यदि आज आप से भेंट न हुई होती तो मैं जलती आग में कूदकर प्राण दे देती।"

इस प्रकार उन दोनों में बातें हो चुकने पर दोनों के मन का बोझ हलका हुआ और पूर्ववत् दोनों एक हुए। होते होते यह संवाद राजा भीमसेन और ऋतुपर्ण ने सुना। उनको इससे बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई। राजा नल से मिलकर अयोध्या-नरेश ने नम्रतापूर्वक कहा—"महाराज! मुझसे बड़ी चूक हुई। मैंने आपको नहीं पहचाना; इसलिये अनजाने आपको सारथी का काम सौंपा। आशा है, आप मुझे इस अपराध के लिये क्षमा करेंगे।"

यह कह राजा ऋतुपर्ण अपनी राजधानी को गए। भीमसेन ने राजा नल से कहा—"आप अपनी राजधानी में न जाकर यहीं रहें और मेरा राज्य ले लें। परन्तु राजा नल से अपनी पद-मर्य्यादा को जाननेवाले पुरुष, ससुराल में रहकर, क्यों समय बिताने लगे थे? यदि

उनको ससुराल ही में रहना होता, तो वे दमयन्ती को छोड़ अयोध्या में क्यों सारथी बनते ? राजा भीमसेन ने उन्हें इस पर एक रथ, सोलह हाथी, ५०० घोड़े और ६०० प्यादे देकर विदा किया ; पर दमयन्ती को न जाने दिया और उसे उसके बच्चों के सहित अपने पास ही रखा।

राजा नल ने अपनी राजधानी में पहुंचकर पुष्कर के साथ फिर चौपड़ खेली। खेलने के पूर्व दोनों में यह प्रतिज्ञा हो गई थी कि जो हारेगा, वह जीतने वाले का दास होकर रहेगा और जितनी सम्पत्ति उसके अधिकार में होगी, वह जीतनेवाले को दे देगा। इस बार भगवान् की दया से नल जीते और पुष्कर हारा। पुष्कर मारे डर के थर थर कांपने लगा। पर दयालु राजा नल इतने नहीं गिर गये थे कि भाई के अपकार का बदला अपकार से देते। उन्होंने भाई से कहा—"तुम डरो मत। मैं तुमसे अप्रसन्न नहीं हूं। मैंने जो कुछ कष्ट भोगा, वह दिनों के फेर से, तुम्हारे कारण नहीं। तुम जैसे पहले काम करते थे, वैसे ही करते रहो। अनन्तर राजा नल ने दमयन्ती को और अपने बेटे-बेटी को भी अपने पास बुलवा लिया और चिर काल तक आनन्द-पूर्वक राज्य करते रहे।

अंधेर-नगरी

[भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सम्वत् १९०७—१९४१ वि०)—ये वर्त्तमान हिन्दी गद्यके प्रवर्त्तक माने गये हैं। इन्होंने गद्यकी भाषाको परिमार्जित करके उसे सुन्दर स्वच्छ रूप दिया। कविता-रचनामें प्राचीन और नवीन की संधि रखी जिससे हिन्दी-कविताका इनसे एक नया युग आरम्भ हुआ: इनके द्वारा हिन्दी-साहित्य एक नये मार्ग पर आ गया और इनके भाषा-संस्कारकी महत्ताको सभोंने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया।]

अंधेर-नगरी चौपट्ट राजा।
टके सेर भाजी टके सेर खाजा॥

पहला दृश्य

[बाह्य प्रान्त]

(महंतजी दो चेलों के साथ गाते हुए आते हैं)

सब—राम भजो राम भजो राम भजो भाई।
राम के भजे से गनिका तर गई,
राम के भजे से गीध गति पाई।
राम के नाम से काम बने सब,
राम के भजन बिनु सबहिं नसाई॥

महंत—बच्चा नारायणदास, यह नगर तो दूर से बड़ा सुंदर दिखलाई पड़ता है! देख, कुछ भिच्छा-उच्छा मिले तो ठाकुर जी को भोग लगे। और क्या!

ना॰ दा॰—गुरुजी महाराज, नगर तो नारायण के आसरे से बहुत ही सुंदर है, जो है सो, पर भिच्छा सुंदर मिले तो बड़ा आनंद हो।

महंत—बच्चा गोवर्धनदास, तू पच्छिम की ओर से जा और नारायणदास पूरब की ओर जायगा। देख, जो कुछ सीधा-सामग्री मिले तो श्री शालग्रामजी का बालभोग सिद्ध हो।

गो॰ दा॰—गुरु जी, मैं बहुत-सी भिच्छा लाता हूं। यहां लोग तो बड़े मालवर दिखलाई पड़ते हैं। आप कुछ चिंता मत कीजिये।

महंत—बच्चा, बहुत लोभ मत करना। देखना, हां—

लोभ पाप को मूल है, लोभ मिटावत मान।
लोभ कभी नहिं कीजिये, यामैं नरक निदान॥

[गाते हुए सब जाते हैं]

———

दूसरा दृश्य

[बाजार]

घासीराम—चने जोर गरम—
चने बनावें घासीराम।
जिनकी झोली में दूकान॥
चना चुरमुर चुरमुर बोले।
बाबू खाने को मुंह खोले॥
चने जोर गरम! टके सेर!

नरंगीवाली—नरंगी ले नरंगी—कंवला नीबू, मीठा नीबू, रंगतरा, संगतरा, नरंगी! टके सेर नरंगी!

हलवाई—जलेबियां गरमा गरम! ले सेव, इमरती, लड्डू, कचौड़ी, दालमोट, पकौड़ी, घेवर, गुपचुप! जो खाय सो भी पछताय, जो न खाय सो भी पछताय। रेवड़ी कड़ाका, पापड़ पड़ाका। सब सामान ताजा। खाजा—ले खाजा! टके सेर खाजा!

कुंजड़िन—ले धनिया, मेथी, सोश्रा, पालक, चौराई, सरसों का साग। ले फालसा, खिरनी, आम, अमरूद, निबुआ, मटर, होरहा। जैसे काजी वैसे पाजी। रैयत राजी, टके सेर भाजी। ले हिंदुस्तान का मेवा फूट और बैर!

मुग़ल—बादाम, पिस्ते, अखरोट, बिहीदाना, मुनक्का,

किशमिश, अंगूर की पिटारी ! हिंदुस्तान का आदमी लक-लक, हमारे वहां का आदमी बंबक-बंबक ! लो सब मेवा टके सेर ।

चूरनवाला—

चूरन अमलबेद का भारी ।
जिसको खाते कृष्ण मुरारी ॥
मेरा पाचक है पचलोना ।
जिसको खाते श्याम सलोना ॥
चूरन बना मसालेदार ।
जिसमें खट्टे की बहार ॥
चूरन नाटकवाले खाते ।
इसकी नकल पचा कर लाते ॥
चूरन सभी महाजन खाते ।
जिससे जमा हजम कर जाते ॥
चूरन खाते लाला लोग ।
जिनको अकिल अजीरन रोग ॥
चूरन खावें एडिटर जात ।
जिनके पेट पचै नहिं बात ॥
ले चूरन का ढेर, बेचा टके सेर ।

जातवाला (ब्राह्मण)—जात ले जात, टके सेर जात । एक टका दो, हम अभी अपनी जात बेचते हैं । टके के

वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जायं और धोबी को ब्राह्मण कर दें। वेद, धर्म्म, कुल-मरजादा, सचाई-बड़ाई, सब टके सेर। लुटाय दिया अनमोल माल। ले टके सेर।

(बाबाजी का चेला गोवर्धनदास आता है और सब बेचनेवालों की आवाज़ सुन सुन कर खाने के आनंद में बड़ा प्रसन्न होता है।)

गो॰ दा॰—क्यों भाई बनिये, आटा कितने सेर?

बनिया—टके सेर।

गो॰ दा॰—औ चावल?

बनिया—टके सेर।

गो॰ दा॰—औ चीनी?

बनिया—टके सेर।

गो॰ दा॰—औ घी?

बनिया—टके सेर।

गो॰ दा॰—सब टके सेर! सचमुच?

बनिया—हां महाराज, क्या झूठ बोलूंगा?

गो॰ दा॰—(कुंजड़िन के पास जाकर) क्यों माई, भाजी क्या भाव?

कुंजड़िन—बाबा जी, टके सेर। निनुआ, मुरई, धनिया, मिरचा, साग सब टके सेर।

गो॰ दा॰—सब भाजी टके सेर! वाह-वाह!

बड़ा आनंद है। यहां सभी चीज़ टके सेर। (हलवाई के पास जाकर) क्यों भाई हलवाई, मिठाई कितने सेर ?

हलवाई—बाबा जी, लड़्‌ुआ, हलुआ, जलेबी, गुलाबजामुन, खाजा, सब टके सेर।

गो॰ दा॰—वाह! वाह!! बड़ा आनंद है। क्यों बच्चा, मुझसे मसखरी तो नहीं करता ? सचमुच सब टके सेर ?

हलवाई—हां बाबा जी, सचमुच सब टके सेर। इस नगरी की चाल ही यही है। यहां सब चीज़ टके सेर बिकती है।

गो॰ दा॰—क्यों बच्चा, इस नगरी का नाम क्या है ?

हलवाई—अंधेर नगरी।

गो॰ दा॰—और राजाका क्या नाम है ?

हलवाई—चौपट्ट राजा।

गो॰ दा॰—वाह! वाह!! अंधेर नगरी चौपट्ट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा।

[यही गाता है और आनन्द से बगल बजाता है।]

हलवाई—तो बाबाजी, कुछ लेना देना हो तो लो दो।

गो॰ दा॰—बच्चा, भिच्चा मांग कर सात पैसे लाया

हूं, साढ़े तीन सेर मिठाई दे दे, गुरु-चेले सब आनंदपूर्वक इतने में छक जायंगे।

[हलवाई मिठाई तौलता है—बाबा जी मिठाई लेकर खाते हुए और अंधेर-नगरी गाते हुए जाते हैं।]

[पटाक्षेप]

तीसरा दृश्य

[स्थान—जंगल]

(महंतजी और नारायणदास एक ओर से 'राम भजो', इत्यादि गाते हुए आते हैं और दूसरी ओर से गोवर्धनदास अंधेर-नगरी गाता हुआ आता है।)

महंत—बच्चा गोवर्धनदास, कह, क्या भिक्षा लाया? गठरी तो भारी मालूम पड़ती है।

गो॰ दा॰—गुरुजी महाराज, सात पैसे भीख में मिले थे, उसीसे साढ़े तीन सेर मिठाई मोल ली है।

महंत--बच्चा, नारायणदास ने मुझसे कहा था कि यहां सब चीज़ टके सेर मिलती है, तो मैंने इसकी बात का विश्वास नहीं किया। बच्चा, यह कौनसी

नगरी है और इसका कौनसा राजा है, जहां टके सेर भाजी और टके ही सेर खाजा बिकता है ?

गो० दा०—अंधेरनगरी चौपट्ट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा।

महंत—तो बच्चा, ऐसी नगरी में रहना उचित नहीं है, जहां टके सेर भाजी और टके ही सेर खाजा हो—

दोहा—सेत सेत सब एक से, जहां कपूर कपास।
ऐसे देस कुदेस में, कबहूं न कीजे बास॥

सो बच्चा चलो यहां से। ऐसी अंधेरनगरी में हजार मन मिठाई मुफ़्त की मिले तो किस काम की ? यहां एक छन नहीं रहना।

गो० दा०—गुरुजी, ऐसा तो संसार भर में कोई देश ही नहीं है। दो पैसा पास रहने ही से मजे में पेट भरता है। मैं तो इस नगर को छोड़कर नहीं जाऊंगा।

महंत—देख बच्चा, पीछे पछतायगा।

गो० दा०—आपकी कृपा से कोई दुःख न होगा, मैं तो यही कहता हूं कि आप भी यहां रहिये।

महंत—मैं तो इस नगर में अब एक क्षण भर नहीं रहूंगा। देख, मेरी बात मान, नहीं पीछे पछतायगा। मैं तो जाता हूं, पर इतना कहे जाता हूं कि कभी संकट पड़े तो हमारा स्मरण करना।

गो॰ दा॰—प्रणाम गुरुजी, मैं आपका नित्य ही स्मरण करूंगा। मैं तो फिर भी कहता हूं कि आप भी यहीं रहिये।

[महंत जी नारायणदास के साथ जाते हैं, गोवर्धनदास बैठ कर मिठाई खाता है]

[पटाक्षेप]

चौथा दृश्य

[स्थान—राजसभा]

(राजा, मंत्री और नौकर लोग यथास्थान स्थित हैं।)

एक सेवक—(चिल्लाकर) पान खाइये, महाराज।

राजा—(पिनकसे चौंकके घबराकर उठता है) क्या कहा? सुपनखा आई ए महाराज। (भागता है)

मंत्री—(राजा का हाथ पकड़ कर) नहीं नहीं, यह कहता है कि पान खाइए महाराज।

राजा—दुष्ट, लुच्चापाजी! नाहक हमको डरा दिया। मंत्री, इसको सौ कोड़े लगें।

मंत्री—महाराज, इसका क्या दोष है? न तमोली पान लगाकर देता, न यह पुकारता।

राजा—अच्छा, तमोली को दो सौ कोड़े लगें।

मंत्री—पर महाराज, आप पान खाइए सुनकर थोड़े ही डरे हैं, आप तो सुपनखा के नाम से डरे हैं, सुपनखा की सजा हो।

राजा—(घबराकर) फिर वही नाम, मंत्री तुम बड़े खराब आदमी हो। नौकर, नौकर, शराब—

दूसरा सेवक—(एक सुराही में से एक गिलास में शराब उझल कर देता है) लीजिए महाराज, पीजिए महाराज!

राजा—(मुंह बना-बना कर पीता है) और दे।

(नेपथ्य में दुहाई है दुहाई का शब्द होता है)

राजा—कौन चिल्लाता है? पकड़ लाओ।

(दो नौकर एक फ़र्यादी को पकड़ लाते हैं।)

फ़॰—दोहाई, महाराज, दोहाई है। हमारा न्याव होय।

राजा—चुप हो। तुम्हारा न्याव यहां ऐसा होगा कि जैसा जम के यहां भी न होगा—बोलो क्या हुआ।

फ़॰—महाराज, कल्लू बनिये की दीवार गिर पड़ी सो मेरी बकरी उसके नीचे दब गई। दोहाई है, महाराज, न्याव हो।

राजा—(नौकर से) कल्लू बनिये की दीवार को अभी पकड़ लाओ।

मंत्री—महाराज, दीवार नहीं लाई जा सकती।

राजा—अच्छा, उसका भाई, लड़का, दोस्त, जो हो उसको पकड़ लाओ।

मंत्री—महाराज, दीवार ईंट-चूने की होती है, उसके भाई-बेटा नहीं होता।

राजा—अच्छा, कल्लू बनिये को पकड़ लाओ।

(नौकर लोग दौड़कर बाहर से बनिये को पकड़ लाते हैं।)

राजा—क्यों बे बनिये, इसकी लरकी, नहीं बरकी क्यों दबकर मर गई?

मंत्री—बरकी नहीं महाराज, बकरी।

राजा—हां! हां! बकरी क्यों मर गई बोल, नहीं अभी फांसी देता हूं।

कल्लू—महाराज, मेरा कुछ दोष नहीं। कारीगर ने ऐसी दीवार बनायी कि गिर पड़ी।

राजा—अच्छा, इस मल्लू को छोड़ दो, कारीगर को पकड़ लाओ।

(कल्लू जाता है, लोग कारीगर को पकड़ कर लाते हैं।)

राजा—क्यों बे कारीगर, इसकी बकरी किस तरह मर गई?

कारीगर—महाराज, मेरा कुछ क़सूर नहीं, चूनेवाले ने चूना ऐसा बोदा बनाया कि दीवार गिर पड़ी।

राजा—अच्छा, इस कारीगर को बुलाओ, नहीं नहीं, निकालो ; उस चूनेवाले को बुलाओ।

(कारीगर निकाला जाता है, चूनेवाला पकड़कर लाया जाता है)

राजा—क्यों बे खैर-सुपारी-चूनेवाले, इसकी बकरी कैसे मर गई ?

चूनेवाला—महाराज, मेरा कुछ दोष नहीं ; भिश्ती ने चूने में पानी ज्यादा डाल दिया, इसीसे चूना कमज़ोर हो गया होगा।

राजा—अच्छा, चुन्नीलाल को निकालो, भिश्ती को पकड़ो।

(चूनेवाला निकाला जाता है, भिश्ती लाया जाता है।)

राजा—क्यों बे भिश्ती, गंगा-जमुना की किश्ती ! इतना पानी क्यों डाल दिया कि इसकी बकरी गिर पड़ी और दीवार दब गई ?

भिश्ती—महाराज, गुलाम का कोई कसूर नहीं, कसाई ने मसक इतनी बड़ी बना दी थी कि उसमें पानी ज्यादा आ गया।

राजा—अच्छा, कसाई को लाओ, भिश्ती को निकालो।

(लोग भिश्ती को निकालते हैं और कसाई को लाते हैं)

राजा—क्यों बे कसाई, मसक ऐसी क्यों बनाई कि दीवार गिराई, और बकरी दबाई ?

कसाई—महाराज, गड़ेरिये ने टके पर ऐसी बड़ी भेड़ मेरे हाथ बेची कि उसकी मसक बड़ी बन गई।

राजा—अच्छा, कसाई को निकालो, गड़ेरिये को लाओ।

(कसाई निकाला जाता है और गड़ेरिया लाया जाता है।)

राजा—क्यों बे ऊख पौंडे के गड़रिये, ऐसी बड़ी भेड़ क्यों बेची कि बकरी मर गई ?

गड़रिया—महाराज, उधर से कोतवाल साहब की सवारी आई, सो उसके देखने में मैंने छोटी बड़ी भेड़ का ख़याल नहीं किया, मेरा कुछ कसूर नहीं।

राजा—अच्छा, इसको निकालो, कोतवाल को अभी सरबमुहर पकड़ लाओ।

(गड़रिया निकाला जाता है, कोतवाल पकड़ा आता है।)

राजा—क्यों बे कोतवाल, तैंने सवारी ऐसी धूम से क्यों निकाली कि गड़ेरिये ने घबड़ाकर बड़ी भेड़ बेची, जिससे बकरी गिर कर कल्लू बनिया दब गया ?

कोतवाल—महाराज, महाराज, मैंने तो कोई कसूर नहीं किया, मैं तो शहर के इंतज़ाम के वास्ते जाता था।

मन्त्री—(आप ही आप) यह तो बड़ा ग़ज़ब हुआ, ऐसा न हो कि यह बेवकूफ इस बात पर सारे नगर को फूंक दे या फांसी दे।

(कोतवाल से) यह नहीं, तुमने ऐसी धूम से सवारी क्यों निकाली ?

राजा—हां हां, यह नहीं, तुमने ऐसी धूम से सवारी क्यों निकाली कि उसको बकरी दबी ?

कोतवाल—महाराज महाराज—

राजा—कुछ नहीं, महाराज महाराज, ले जाओ, कोतवाल को अभी फांसी दो। दरबार बरखास्त।

(लोग एक तरफ से कोतवाल को पकड़कर ले जाते हैं, दूसरी ओर से मंत्री को पकड़कर राजा जाते हैं।)

[पटाक्षेप]

पांचवां दृश्य

(अरण्य)

(गोबर्धनदास गाता हुआ आता है।)

अंधेर नगरी अनबूझ राजा।
टके सेर भाजी टके सेर खाजा॥

सांचे मारे मारे डोलैं।
छली दुष्ट सिर चढ़ि-चढ़ि बोलैं॥
प्रगट सभ्य अंतर छलधारी।
सोई राजसभा बल भारी॥
सांच कहैं ते पनही खावैं।
झूठे बहु बिधि पदवी पावैं॥
छलियन के एका के आगे।
लाख कहौ एकहु नहिं लागे॥
ऊंच नीच सब एकहिं सारा।
मानहुं ब्रह्म-ज्ञान विस्तारा॥

(बैठकर मिठाई खाता है।)

गुरुजी ने हमको नाहक यहां रहने को मना किया था। माना कि देस बहुत बुरा है, पर अपना क्या? अपने किसी राज-काज में थोड़े ही हैं कि कुछ डर हो, रोज मिठाई चाभना, मजे में आनंद से रामभजन करना।

(मिठाई खाता है)

(चार प्यादे चार ओर से आकर उसको पकड़ लेते हैं।)

१ प्यादा—चल बे चल, बहुत मिठाई खाकर मुटाया है। आज पूरी हो गई।

२ प्या०—बाबाजी चलिए, नमोनारायण कीजिए।

गो० दा०—(घबड़ाकर) हैं! यह आफ़त कहां से

आई! अरे भाई, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है जो मुझको पकड़ते हो?

१ प्या०—आपने बिगाड़ा है या बनाया है, इससे क्या मतलब, अब चलिए फांसी चढ़िए।

गो० दा०—फांसी! अरे बाप रे बाप फांसी! मैंने किसके प्राण मारे कि मुझको फांसी!

२ प्या०—आप बड़े मोटे हैं, इस वास्ते फांसी होती है।

गो० दा०—मोटे होने से फांसी? यह कहां का न्याव है! अरे, हंसी फकीरों से नहीं करनी होती।

१ प्या०—जब सूली चढ़ लीजिएगा तब मालूम होगा कि हंसी है कि सच। सीधी राह से चलते हो कि घसीटकर ले चलें?

गो० दा०—अरे बाबा, क्यों बेकसूर का प्राण मारते हो? भगवान के यहां क्या जवाब दोगे?

१ प्या०—भगवान को जवाब राजा देगा। हमको क्या मतलब! हम तो हुक्मी बंदे हैं।

गो० दा०—तब भी बाबा बात क्या है कि हम फ़कीर आदमी को नाहक फांसी देते हो?

१ प्या०—बात यह है कि कल कोतवाल को फांसी का हुकुम हुआ था। जब फांसी देने को उसको ले गए, तो फांसी का फंदा बड़ा हुआ, क्योंकि कोतवाल

साहब दुबले हैं। हम लोगों ने महाराज से अर्ज किया। इसपर हुक्म हुआ कि एक मोटा आदमी पकड़कर फांसी दे दो, क्योंकि बकरी मारने के अपराध में किसी-न-किसी को सजा होनी जरूरी है, नहीं तो न्याव न होगा। इसी वास्ते तुमको ले जाते हैं कि कोतवाल के बदले तुम को फांसी दें।

गो० दा०—दुहाई परमेश्वर की! अरे मैं नाहक मारा जाता हूं! अरे यहां बड़ा ही अंधेर है, अरे गुरु जी महाराज का कहा मैंने न माना उसका फल मुझको भोगना पड़ा। गुरुजी कहां हो! आओ, मेरे प्राण बचाओ, अरे मैं बे-अपराध मारा जाता हूं। गुरु जी! गुरु जी!!

(गोवर्धनदास चिल्लाता है, प्यादे उसको
पकड़कर ले जाते हैं।)

[पटाक्षेप]

छठा दृश्य

(स्थान—श्मशान)

(गोवर्धनदास को पकड़े हुए चार सिपाहियों का प्रवेश)

गो० दा०—हाय बाप रे! मुझे बेकसूर ही फांसी

देते हैं। अरे भाइयो, कुछ तो धरम विचारो! अरे मुझे छोड़ दो। हाय! हाय!!

(रोता है और छुड़ाने का प्रयत्न करता है)

१ सिपाही—अबे, चुप रह—राजा का हुकुम भला कहीं टल सकता है? यह तेरा आख़िरी दम है, राम का नाम ले—बेफ़ायदा क्यों शोर करता है? चुप रह—

गो॰ दा॰—हाय, मैंने गुरुजी का कहना न माना, उसी का यह फल है। अरे! इस नगर में ऐसा कोई धर्मात्मा नहीं है, जो इस फ़कीर को बचावे। गुरु जी कहां हो? बचाओ—गुरुजी—गुरुजी—

(रोता है, सिपाही लोग उसे घसोटते हुए ले चलते हैं। गुरुजी और नारायणदास आते हैं।)

गुरु—अरे बच्चा गोवर्धनदास! तेरी यह क्या दशा है?

(गुरुजी को हाथ जोड़ कर)

गो॰ दा॰—गुरु जी, दीवार के नीचे बकरी दब गई, सो इसके लिये मुझे फांसी देते हैं, गुरु जी बचाओ।

गुरु—अरे बच्चा! मैंने तो पहिले ही कहा था कि ऐसे नगर में रहना ठीक नहीं, तैंने मेरा कहना नहीं सुना।

गो॰ दा॰—मैंने आपका कहा नहीं माना उसी का

यह फल मिला। आपके सिवा अब ऐसा कोई नहीं है जो रक्षा करे। मैं आप ही का हूं, आपके सिवा और कोई नहीं।

(पैर पकड़ कर रोता है।)

महन्त—कोई चिन्ता नहीं, नारायण सब समर्थ हैं।

(भौं चढ़ाकर सिपाहियों से)

सुनो, मुझे शिष्य को अंतिम उपदेश देने दो। तुम लोग तनिक किनारे हो जाओ। देखो, मेरा कहना न मानोगे तो तुम्हारा भला न होगा।

सिपाही—नहीं महाराज, हम लोग हट जाते हैं। आप बेशक उपदेश कीजिए।

(सिपाही हट जाते हैं। गुरुजी चेले के कान में कुछ समझाते हैं।)

गो० दा०—(प्रगट) तब तो गुरुजी हम अभी फांसी चढ़ेंगे।

महंत—नहीं बचा, मुझको चढ़ने दे।

गो० दा०—नहीं गुरुजी, हम फांसी चढ़ेंगे।

महंत—नहीं बचा हम। इतना समझाया नहीं मानता, हम बूढ़े भए, हमको जाने दे।

गो० दा०—स्वर्ग जाने में बूढ़ा जवान क्या?

परीक्षा-गुरु

[लाला श्रीनिवासदास (संवत् १९०८—१९४४ वि०)—ये दिल्लीके रईस थे। दिल्लीके मुहावरोंके लिये ये प्रमाण समझे जाते हैं। इन्होंने 'तप्तासंवरण', 'संयोगिता-स्वयंवर' और 'रणधीर प्रेममोहिनी' ये तीन मौलिक नाटक लिखे और ये तीनों उच्च कोटिके नाटक हैं। इनकी कविता बड़ी ही सरस होती थी तथा गद्य की भिन्न भिन्न शैलियोंपर इनका पूरा अधिकार था। परीक्षागुरु उच्चकोटिका प्रबन्ध है। इसकी शैली अंगरेजी ढंगकी है।]

भले बुरे की पहचान

धर्म अर्थ शुभ कहत कोउ काम अर्थ कहि आन।
कहत धर्म कोउ अर्थ कोउ तीनहु मिल शुभ जान॥

"आपके कहने मूजिब किसी आदमीकी बातोंसे उसका स्वभाव नहीं जाना जाता, फिर उसका स्वभाव पहचाननेके लिये क्या उपाय करें?" लाला मदन-मोहनने तर्क किया।

"उपाय करनेकी कुछ ज़रूरत नहीं है, समय पाकर सब भेद अपने आप खुल जाता है;" लाला ब्रजकिशोर कहने लगे, "मनुष्यके मनमें ईश्वरने अनेक प्रकारकी वृत्तियां उत्पन्न की हैं, जिनमें परोपकारकी इच्छा, भक्ति और न्यायपरता धर्मप्रवृत्तिमें गिनी जाती हैं।

दृष्टान्त और अनुमानादिके द्वारा उचित अनुचित कामोंको विवेचना, पदार्थज्ञान और विचारशक्तिका नाम बुद्धिवृत्ति है। बिना बिचारे अनेक बार के देखने, सुनने आदि से जिस काममें मनकी प्रवृत्ति हो, उसे आनुषङ्गिक प्रवृत्ति कहते हैं। काम, सन्तानस्नेह, संग्रह करनेकी लालसा, जिघांसा और आत्मसुखकी अभिरुचि इत्यादि निकृष्ट प्रवृत्ति में शामिल हैं। और इन सबके अविरोधसे जो काम किया जाय वह ईश्वरके नियमानुसार समझा जाता है, परन्तु किसी काममें दो वृत्तियोंका विरोध किसी तरह न मिट सके तो वहां ज़रूरतके लायक आनुषङ्गिक प्रवृत्ति और निकृष्ट प्रवृत्तिको धर्मप्रवृत्ति आर बुद्धिप्रवृत्तिसे दबा देना चाहिये, जैसे श्रीरामचन्द्रजीने राजपाट छोड़कर बनमें जानेसे धर्मवृत्तिको उत्तेजित किया था।"

"यह तो सवाल और, जवाब और हुआ। मैंने आपसे मनुष्यका स्वभाव पहचाननेकी राह पूछी थी, आप बीचमें मनकी वृत्तियोंका हाल कहने लगे।" लाला मदनमोहनने कहा।

"इसीसे आगे चलकर मनुष्यके स्वभाव पहिचाननेकी रीति मालूम होगी।"

'पर आप तो काम, सन्तानस्नेह आदिके अविरोधसे भक्ति और परोपकारादि करनेके लिये कहते हैं, और

शास्त्रोंमें काम, क्रोध, लोभ, मोहादिककी बारम्बार निन्दा की है, फिर आपका कहना ईश्वरके नियमानुसार कैसे हो सकता है?" पण्डित पुरुषोत्तमदास बीचमें बोल उठे।

"मैं पहले कह चुका हूं कि धर्मप्रवृत्तिमें विरोध हो, वहां ज़रूरतके लायक धर्म प्रवृत्तिको प्रबल मानना चाहिये, परन्तु धर्मप्रवृत्ति और बुद्धिप्रवृत्तिका बचाव किये पीछे भी निकृष्ट प्रवृत्तिका त्याग किया जायगा तो ईश्वरकी यह रचना सर्वथा निरर्थक ठैरेगी। पर ईश्वरका कोई काम निरर्थक नहीं है। मनुष्य निकृष्ट प्रवृत्तिके वश होकर धर्मप्रवृत्ति और बुद्धिप्रवृत्तिकी रोक नहीं मानता, इसीसे शास्त्रमें बारम्बार उसका निषेध किया है, परन्तु धर्मप्रवृत्ति और बुद्धिको मुख्य माने पीछे, उचित रीतिसे निकृष्टप्रवृत्तिका आचरण किया, तो गृहस्थके लिए दूषित नहीं हो सकता। हां, उसका नियम उल्लङ्घन कर किसी एक वृत्तिकी प्रबलतासे और और वृत्तियोंके विपरीत आचरण कर कोई दुःख पावे, तो इसमें किसीका बस नहीं। सबसे मुख्य धर्मप्रवृत्ति है, परन्तु उसमें भी जबतक और वृत्तियोंके हककी रक्षा न की जायगी, अनेक तरहके बिगाड़ होनेकी संभावना बनी रहेगी।"

"मुझको आपकी यह बात बिल्कुल अनोखी मालूम

होती है। भला परोपकारादि शुभ कामोंका परिणाम कैसे बुरा हो सकता है?" पण्डित पुरुषोत्तमदासने कहा।

"जैसे अन्न प्राणाधार है, परन्तु अति भोजनसे रोग उत्पन्न होता है," लाला ब्रजकिशोर कहने लगे, "देखिये परोपकारकी इच्छा हो अत्यन्त उपकारी है, परन्तु हदसे आगे बढ़नेपर वह भी फिज़ूलखर्ची समझी जायगी और अपने कुटुम्ब परिवारादि का सुख नष्ट हो जायगा। जो आलसी अथवा अधर्मियोंकी सहायता की, तो उससे संसारमें आलस्य और पापकी वृद्धि होगी। इसी तरह कुपात्रमें भक्ति होनेसे लोक परलोक दोनों नष्ट हो जायंगे। न्यायपरता यद्यपि सब वृत्तियोंको समान रखनेवाली है, परन्तु इसकी अधिकतासे भी मनुष्यके स्वभावमें मिलनसारी नहीं रहती, क्षमा नहीं रहती। जब बुद्धिवृत्तिके कारण किसी वस्तुके विचारमें मन अत्यन्त लग जायगा तो और जानने लायक पदार्थोंकी अज्ञानता बनी रहेगी। मनको अत्यन्त परिश्रम होनेसे वह निर्बल हो जायगा, और शरीरका परिश्रम बिलकुल न होनेके कारण शरीर भी बलहीन हो जायगा। आनुषङ्गिक प्रवृत्तिके प्रबल होनेसे जैसा संग होगा वैसा रंग तुरंत लग जाया करेगा। कामकी प्रबलतासे समय असमय और स्वस्त्री परस्त्री आदिका विचार

न रहेगा। सन्तानस्नेहकी वृत्ति बढ़ गयी तो उसके लिये आप अधर्म करने लगेगा। उसको लाड़ प्यारमें रखकर उसके लिये जुदे कांटे बोयेगा। संग्रह करनेको लालसा प्रबल हुई तो जोरोसे, चोरीसे, छलसे, खुशामदसे, कमानेको इच्छा बढ़ेगो और खाने खर्चनेके नामसे जान निकल जायगो। जिघांसावृत्ति प्रबल हुई तो छोटो छोटी सी बातोंपर अथवा खालो सन्देहपर ही दूसरोंका सत्यानाश करनेको इच्छा होगो, और दूसरेको दण्ड देतो बार आप दण्डयोग्य बन जायगा। आत्मसुखको अभिरुचि हद्दसे आगे बढ़ गयी तो मनको परिश्रमके कामोंसे बचानेके लिये गाने बजानेको इच्छा होगी, अथवा तरह तरहके खेल तमाशे हंसोचुहलकी बातें, नशेबाज़ो, और खुशामदमें मन लगेगा। द्रव्यके बलसे बिना धर्म किये धर्मात्मा बनना चाहेंगे। दिन रात बनावसिंगारमें लगे रहेंगे, अपनो मानसिक उन्नति करनेके बदले उन्नति करनेवालोंसे द्रोह करेंगे, अपनो झूठी ज़िद निबाहनेमें सब बड़ाई समझेंगे, अपने फ़ायदेकी बातोंमें औरोंके हक़का कुछ विचार न करेंगे, अपने काम निकालनेके समय आप खुशामदो बन जायेंगे। द्रव्यको चाहना हुई तो उचित उपायों से पैदा करनेके बदले जुआ, बदनो, धरोहर, रसायन, या धरो ढको दौलत ढूंढ़ते फिरेंगे।"

"आप तो फिर वही मनकी वृत्तियोंका झगड़ा ले बैठे। मेरे सवालका जवाब दीजिये या हार मानिये।" लाला मदनमोहन उकताकर कहने लगे।

"जब आप पूरी बात ही न सुनें तो मैं क्या जवाब दूं? मेरा मतलब इतने विस्तार से यह था कि वृत्तियोंका सम्बन्ध मिलाकर अपना कर्तव्य कर्म निश्चय करना चाहिये। किसी एक वृत्तिकी प्रबलतासे और वृत्तियोंका विचार न किया जायगा तो उसमें बहुत नुकसान होगा।" लाला ब्रजकिशोर कहने लगे।

"अच्छा, संसार में किसी मनुष्यका इस रीतिपर पूरा बरताव भी आजतक हुआ है?" बाबू बैजनाथने पूछा।

"क्यों नहीं, देखिये, पाईसिसट्रेटस नामी एथीनियनका नाम इसी कारण इतिहासमें चमक रहा है। यह उदार होनेपर फ़िज़ूलखर्च न था, और किसीके साथ उपकार करके प्रत्युपकार नहीं चाहता था, बल्कि अपनी नामवरीकी भी चाह न रखता था। वह किसी दरिद्रके मरनेकी खबर पाता तो उसके क्रियाकर्मके लिये तत्काल अपने पाससे खर्च भेज देता। दरिद्रीको विपदग्रस्त देखता तो अपने पाससे सहायता करके उसके दुःख दूर करनेका उपाय करता, पर कभी किसी मनुष्यको उसकी आवश्यकतासे अधिक देकर आलसी

और निरुद्यमी नहीं होने देता था। हां, सब मनुष्योंकी प्रकृति ऐसी नहीं हो सकती। बहुधा जिस मनुष्यके मनमें जो वृत्ति प्रबल होती है वह उसको खींचकर अपनी ही राहपर ले जाती है, जैसे एक मनुष्य जङ्गलमें रुपयोंकी थैली पड़ी पावे और उस समय उसके आसपास कोई न हो तब संग्रह करनेकी लालसा कहती है कि 'इसे उठा लो'। सन्तानस्नेह और आत्मसुखकी अभिरुचि सम्मति देती है कि "इस कामसे हमको भी सहायता मिलेगी।' त्यागपरता कहती है कि 'न अपनी प्रसन्नतासे यह किसीने हमको दी न हमने परिश्रम करके यह किसीसे पायी, फिर इसपर हमारा क्या हक है? और इसका लेना चोरीसे क्या कम है? इसे परधन समझकर छोड़ चलो'। परोपकारकी इच्छा कहती है कि "केवल इसको छोड़ जाना उचित नहीं, जहांतक हो सके उचित रीतिसे इसको इसके मालिकके पास पहुंचानेका उपाय करो'। अब इन वृत्तियोंमेंसे जिस वृत्तिके अनुसार मनुष्य काम करे वह उसी मेलमें गिना जाता है। यदि धर्मप्रवृत्ति प्रबल रही तो वह मनुष्य अच्छा समझा जायगा, और निकृष्ट प्रवृत्ति प्रबल रही तो वह मनुष्य नीच गिना जायगा; और इस रीतिसे भले बुरे मनुष्योंकी परीक्षा समय पाकर अपने आप हो जायगी, बल्कि अपनी वृत्तियोंको

पहचानकर मनुष्य अपनी परीक्षा भी आप कर सकेगा। राजपाट, धनदौलत, विद्या, स्वरूप, वंशमर्यादासे भले बुरे मनुष्यकी परीक्षा नहीं हो सकती। विदुरजीने कहा है—

"उत्तम कुल आचार बिन, करै प्रमाण न कोइ।
कुलहीनी आचारयुत, लहै बड़ाई सोइ॥"

———

सौर जगत्‌की उत्पत्ति

[पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी (संवत् १९२१ वि०—)—ये हिन्दीके धुरंधर विद्वान् हैं। संस्कृत, फ़ारसी, मराठी, गुजराती, बंगला, अंगरेजी आदि भाषाओंमें भी इनका अच्छा अधिकार है। हिन्दी गद्य लिखने की इनकी एक विशेष शैली है जो उत्कृष्ट समझी जाती है। वर्त्तमान हिन्दी लेखकोंमें ऐसा अच्छा गद्य लिखनेवाले बहुत कम हैं। इन्होंने बहुतसे मौलिक ग्रन्थ लिखे हैं और उपयोगी पुस्तकोंका हिन्दीमें अनुवाद भी किया है। ये अच्छे कवि भी हैं। खड़ी बोली की कविता की आजकल जो उन्नति हुई है उसका श्रेय द्विवेदीजीको ही है। सच कहा जाय तो ये अपनी जोड़के एक ही लेखक हैं। समालोचकके रूपमें भी इनका स्थान बहुत ऊंचा है। इन्होंने कई पुस्तकोंपर स्वतन्त्र समालोचनाएं लिखी हैं।]

यह विषय बहुत पुराना है, पर है बड़ा मनोरञ्जक। इसपर आजतक बहुत कुछ लिखा भी जा चुका है। अंगरेज़ी-भाषामें तो इसपर न मालूम कितने ग्रन्थ बड़े-बड़े विद्यमान हैं। फिर भी इस विषयमें नई-नई खोज होती ही जाती है और नये-नये सिद्धान्त अस्तित्वमें आते ही जाते हैं। हिन्दीमें इस विषयका कोई सर्व-मान्य पुस्तक अबतक नहीं प्रकाशित हुई। लेख अलबत्ते कई निकल चुके हैं। पर उनमें कुछ जटिलता

है। कुछ समय हुआ, बंगलाभाषाके 'प्रवासी' नामक मासिक पत्रमें, बाबू अपूर्वचन्द्र दत्तका एक लेख, बहुत अच्छा, निकला था। उसमें जटिलता कम है। अतएव इस लेखमें उसीका आश्रय दिया जाता है।

सृष्टिके आरम्भमें यह जगत्, अनन्त आकाशमें परमाणुओंके रूपमें विद्यमान था। अपरिमेय कालतक वह इसी रूपमें था। जब विधाताने इस सृष्टिकी रचना करनी चाही तब उसने इन परमाणुओंके समूहमें शक्तिका सञ्चार कर दिया। उस शक्तिके बलसे परमाणुपिण्डमें गति उत्पन्न हो गई। पर यह शक्ति कैसी थी, इसका व्याख्या करनेमें विज्ञान अबतक समर्थ नहीं हुआ। इसीके द्वारा गति उत्पन्न होती है। अतएव इस शक्तिको हम गतिका 'कारण' अवश्य कह सकते हैं। इस शक्तिके प्रभावसे परमाणुओंमें गतिका सञ्चार होनेपर वे परमाणु कुण्डलाकार होकर, आकाशमें, चक्कर काटने लगे। जैसे परमाणु जड़-जगत्की आदिम अवस्थाकी तसवीर या प्रतिकृति है, वैसे ही कुण्डलाकार गति भी जड़-पदार्थों की गतिकी शैशवावस्था है। जड़-जगत्में गतिका पहला काम केवल घूमने—केवल चक्कर लगाने—की चेष्टामात्र है, और कुछ नहीं। एक परमाणुके ऊपर दूसरा परमाणु रखकर, और दूसरेपर तीसरा रखकर ही, इस विशाल विश्वकी सृष्टि हुई है।

यह ब्रह्माण्ड परमाणुओंहीके एकत्रीकरणका फल है। इस काममें कितने करोड़—कितने अरब-खरब वर्ष—बीत चुके हैं, यह जान लेना कठिन हो नहीं, नितान्त असम्भव भी है। सृष्टिके आदि कारण परमाणुओंने अभीतक अपनी पुरानी कुण्डलाकार गतिका परित्याग नहीं किया। सृष्टि-रचनाके व्यापारमें—जगत्‌को प्रकट करनेके उद्योगमें—यह कुण्डलाकार गति ही विश्व-विधाताका पहला काम है। निरुद्यम और निश्चेष्ट जड़-जगत्‌में शक्तिका यही प्राथमिक आविर्भाव है।

कुण्डलाकार गतिमें यह नहीं भासित होता कि गतिको प्राप्त वस्तु एक जगहसे दूसरी जगह जा रही है। और, एक प्रकारसे वह जाता भी नहीं। सांपकी पूंछ यदि उसके मुंहमें डाल दी जाय तो वह स्थानपरिवर्तन न कर सकेगा। वह केवल उसी जगह रहकर चक्कर लगाता फिरेगा। यही गति कुण्डलाकार कही जाती है। पर इसके द्वारा जगत्‌की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इधर परमाणु भी स्वयं उद्यमहीन अतएव निश्चेष्ट हैं; उनमें स्वयमेव कुछ करनेकी शक्ति नहीं। सृष्टिकी इस अवस्थामें परमात्माने परमाणुओंको एक गुण देनेकी कृपा की; इस गुणका हम आसक्ति कह सकते हैं।

इस आसक्तिकी प्रेरणासे सारे जड़ कुण्डल घूमते-घूमते

एक दूसरेकी तरफ खिंचने लगी। वे ज्यों ज्यों समीप आते गये, त्यों-त्यों परस्पर संलग्न होते गये। इस तरह जब बहुतसे परमाणु संलग्न हो गये तब उनसे एक-एक अणुकी उत्पत्ति होने लगी। यहांपर एक विशेषता हुई। परमाणु तो सब एक ही जातिके थे। पर संलग्नता होनेपर जो अणुओंकी सृष्टि हुई उनमें भिन्नता आ गई। यह बात संलग्नताके न्यूनाधिक्यके कारण हुई।

भिन्न-भिन्न परमाणुओंकी आसक्तिके समुदायके द्वारा ही अणुओं की आसक्ति जानी जा सकती है। पर यह समुदाय या समष्टि केवल परमाणुओंकी आसक्तिके परिमाणमें न्यूनाधिकता होती है। इस कारण समान संख्यावाले परमाणुओंके द्वारा संघटित अणुओंकी भी आसक्ति एक-सी नहीं होती। जिस अणुकी आसक्ति जितनी ही अधिक होती है वह थोड़ी आसक्तिवाले अपने निकटवर्ती अणुको उतना ही अधिक अपनी तरफ खींच लेता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानोंमें बहुतसे अणुओंका एकत्र समावेश होकर भिन्न भिन्न पदार्थोंकी उत्पत्ति हुई है। निर्मल आकाशमें, देखते ही देखते, भाफके परमाणु घने होकर जैसे मेघोंकी सृष्टि करते हैं, जड़-जगत्की आदिम उत्पत्तिका ढंग या क्रम वैसा ही है।

परन्तु पदार्थोंको उत्पन्न करने या बनानेमें जड़ परमाणु अपनी स्वतन्त्रताको नहीं खो देते; उनकी कुण्डलाकार गति हमेशा जैसीकी तैसी ही बनी रहती है। यही कारण है कि सब पदार्थोंमें, जन्महीसे, स्वभावतः, एक प्रकारकी अखण्डनीय गतिकी आकांक्षा पाई जाती है।

अणुओंके परस्पर संलग्न होनेपर जगह-जगहपर उनका आकार बढ़कर क्रमशः बड़ेसे बहुत बड़ा होने लगा। इस प्रकार सारा जड़ जगत् अविच्छिन्न खण्ड-खण्ड नीहारिकाके रूपमें इधर-उधर फिरने लगा। इन नीहारिका-खण्डोंकी गतिका अन्त न था। दिन पर-दिन अधिकाधिक अणुओंके समावेशसे उनकी गतिकी आकांक्षा और आसक्ति भी बहुत अधिक बढ़ने लगी। इसका फल यह हुआ कि नीहारिका-खण्ड अधिकाधिक शक्तिशाली होने लगे। बिना जड़का आधार पाये शक्ति प्रकट नहीं होती; इसीसे जड़को शक्तिका वाहन या आधार कहते हैं। इसके सिवा जहांपर जड़ पदार्थ जितना ही अधिक है वहांपर शक्तिके प्रकटीकरणका सुभीता भी उतना ही अधिक है। नीहारिकाओंका आकार जितना ही अधिक बढ़ने लगा, गति और आसक्ति भी उनके अणुओंमें उतनी ही अधिक प्रबल होने लगी। धीरे-धीरे वे

नीहारिका-खण्ड घनीभूत होकर अन्तको एक विशाल पदार्थखण्डके रूपमें परिणत हो गये और आकाशमें बड़े वेगसे चक्कर काटने लगे।

धीरे-धीरे परमाणुओंकी कुण्डलाकार गतिमें परिवर्तन हो गया। समग्र नीहारिका-निचयकी चाल चर्ख़ीकी चालके सदृश प्रकट हुई। अणुओंमें जैसे-जैसे आसक्ति बढ़ती गई वैसे-ही-वैसे वे अधिक से अधिक परस्पर पास आते गये। इसके अवश्यम्भावी फलके कारण नीहारिका-समूहका घेरा सङ्कुचित होने लगा। इस सिमटनेका परिणाम यह हुआ कि वह नीहारिका-चक्र घना हो गया। फिर वह नीहारिका कुहासेकी अवस्थासे घनी भापके रूपमें परिणत हो गई। तदनन्तर उसने तरल, फिर कीचड़की तरह और अन्तमें कठिन पदार्थका आकार धारण किया। यही जड़-जगत्की उत्पत्ति या रचनाका क्रम है।

किसी तरल या लचीले पदार्थको आप घुमाइए। यदि आप घुमानेका वेग धीरे-धीरे बढ़ाते जायंगे तो देखेंगे कि उसका मध्य-भाग क्रमशः फूलता जाता है और अन्तको गोलक छोड़कर अलग होने—दूर जाने—की चेष्टा करता है। इसी नियमके अनुसार नीहारिका-खण्ड जितने ही अधिक घनीभूत होने लगे उतने ही वे अपनी गोलाकार गतिके कारण क्रमशः गोल होने लगे।

इस समय भी जड़-जगत्में ऐसे नीहारिका-खण्ड देख पड़ते हैं जो अभीतक इतने घने नहीं हुए कि एक अखण्डित पदार्थके रूपमें घूम सकें।

जब नीहारिका-निचय एक अखण्डित पदार्थके रूपमें घूमने लगा तब उसमें एक केन्द्र, अर्थात् स्थान-विशेष या विन्दु-विशेषकी उत्पत्ति हुई और उसके घने होनेका क्रम उसी केन्द्रकी तरफ़ प्रबल होने लगा। इसी कारण केन्द्रिक अर्थात् केन्द्र-सम्बन्धी आकर्षणकी उत्पत्ति हुई। यही केन्द्रिक आकर्षण इस समय माध्याकर्षणके नामसे प्रसिद्ध है। वास्तवमें यह माध्याकर्षण भिन्न-भिन्न अणुओंके आकर्षणकी समष्टिके सिवा और कुछ नहीं है। परमाणुओंकी आसक्तिका यही परिणाम है। इसीसे सारे अणु केन्द्रकी तरफ़ खिंचकर और उसे घेरकर उसके चारों तरफ़ चक्कर लगाते हैं। इस तरह चक्कर लगानेसे नीहारिकायें जितनी ही घनी होती हैं उतनी ही, लचीले गोलेकी तरह, बीचमें फूल उठती हैं। अन्तको जब उस फूले हुए अंशमें गतिका वेग इतना प्रबल हो जाता है कि वहांका जड़ अंश, अपनी जड़ताके कारण, गतिके आगे चलनेकी चेष्टा करता है और उस चेष्टाके वेगसे केन्द्रिक आकर्षणकी मात्रा बिखर जाती है तब वह फूला हुआ अंश दूर छंटकर अलग हो जाता है। ऐसी अवस्थामें वह छंटा हुआ

अंश, मूल नीहारिकाके केन्द्रसे दूर जाकर, आप-ही-आप जड़ और घनीभूत होनेकी चेष्टा करता है। इस घने होनेकी अवस्थामें फिर वह गोलाकार रूप धारण करता है। वह अपने लिए एक अन्य स्वतन्त्र केन्द्रकी सृष्टि करता है और स्वयं ही एक स्वतन्त्र पदार्थ-खण्ड बन जाता है।

मूल-नीहारिका-खण्डसे, ऊपर लिखे हुए ढंगसे, एक खण्ड अलग होकर एक स्वतन्त्र गोलककी उत्पत्ति होना जड़ पदार्थोंके स्वाभाविक धर्मकी प्रक्रियामात्र है। परन्तु इस विच्युतिके कारण मूल-गोलक और खण्ड-गोलकका पारस्परिक सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं होता। एक दूसरेकी तरफ़ उनकी आसक्ति, परस्परके केन्द्रकी दूरीके अनुसार कम होनेपर भी, एकदम नष्ट नहीं होती। इस कारण खण्ड-गोलक अपने मूल-गोलकको घेरकर घूमा करता है। ऐसी स्थितिमें मूल-गोलकको सूर्य्य और खण्ड-गोलकको ग्रह कहते हैं। सूर्य्यको घेरकर घूमते-घूमते ग्रह जितना ही अधिक घना हो जाता है, उसके केन्द्रके चारों ओर चक्कर लगानेवाली उसकी गति उतनी ही प्रबल हो उठती है। इस गतिके क्रमशः बढ़नेके कारण वह ग्रह, लचीले गोलेकी तरह, बीचमें फूलने लगता है। इसी तरह ग्रहसे, कुछ दिनोंमें, छोटे-छोटे अन्य ग्रहों अर्थात् उपग्रहोंकी सृष्टि होती है।

ऊपर लिखे अनुसार, क्रमशः बहुतसे ग्रहों और उपग्रहोंकी उत्पत्ति होनेपर यथासमय एक एक सूर्य्यके चारों तरफ़ एक-एक बड़े परिवारकी सृष्टि हो जाती है। उस ग्रह परिवारको सौर जगत् कहते हैं। इस प्रकार अनन्त समयमें सूर्य, ग्रह और उपग्रह क्रमशः घने हुए हैं, और घने होनेकी अवस्थामें क्रमशः गाढ़ी भाफ, तरल पदार्थ, कीचड़ आदिकी अवस्थाओंको पार करके कठिन और ठोस अवस्थाओंको पहुंचे हैं। जो गोलक जितना ही कठिन होता जाता है, उसके भीतर जो अणु हैं उनकी पारस्परिक रगड़से उसकी आणविक अर्थात् कुण्डलाकार गतिका ह्रास भी उतना ही होता जाता है। विज्ञान हमको बतलाता है कि गर्मी और प्रकाश इसी आणविक गतिके फल हैं। इस कारण उक्त पदार्थ-खण्ड जितने ही घने होते जाते हैं उतनी ही गर्मी, वे अपनी आणविक गतिकी रगड़से, उत्पन्न करते हैं। जब वे कठिन अर्थात् ठोस पदार्थका रूप धीरे-धीरे धारण करते हैं तब गर्मी उत्पन्न करने और प्रकाश फैलानेकी उनकी शक्ति चली जाती है।

पृथ्वीपर रहनेवाले हमलोग जिस सूर्यके चारों तरफ चक्कर लगा रहे हैं उसके सदृश और भी कितने सूर्य इस ब्रह्माण्डमें हैं, यह कोई नहीं बता सकता। यह भी

कोई निश्चयके साथ नहीं कह सकता कि सूर्य्य किसी अन्य महा-सूर्य्यका खण्ड है या नहीं। पहले जो कुछ कहा जा चुका है उससे यह प्रमाणित होता है कि जो सूर्य्य किसी मूल नीहारिका-खण्डके सङ्कोचसे उत्पन्न होता है उसके लिए उस जगहसे दूसरी जगह जाना सम्भव नहीं। परन्तु गणित-शास्त्रके आधारपर यह सिद्धान्त स्थिर हुआ है कि हमारा यह सूर्य्य, शून्य आकाश-पथमें, किसी निर्दिष्ट स्थानकी ओर जा रहा है। अतएव जान पड़ता है कि हमारा सूर्य्य किसी मूल नीहारिकाके सङ्कोचसे नहीं उत्पन्न हुआ ; किन्तु किसी महा सूर्य्यके सङ्कोच और चक्राकार गतिके कारण, उससे च्युत होकर, उत्पन्न हुआ है। सौर जगत्के सब ग्रह जैसे धीरे-धीरे जमते हुए कठिन अवस्थाको प्राप्त होते जाते हैं वैसे ही हमारा यह सूर्य्य भी, जमते-जमते, भविष्यत्में कठिन पदार्थ-खण्ड बन जायगा। उस समय उसका सारा तेज नष्ट हो जायगा। वह एक अन्धकारमय गर्तके सदृश रह जायगा। अनुमान तो ऐसा ही किया जाता है। पर यह घटना कब होगी, इसका पता कोई भी शास्त्र—कोई भी विद्वान—बतानेमें असमर्थ है।

सौर जगत्में कई ग्रह एकदमही बुझकर अन्धकारमय हो गये हैं—जैसे बुध और शुक्र। कुछ ग्रहोंका आवरण-भाग प्रकाशरहित हो जानेपर, उनका भीतरी भाग अब

भी गर्म है—जैसे पृथ्वी और मङ्गलका। कोई-कोई ग्रह इस समय भी कुछ-हो-कुछ प्रकाश फैलानेकी शक्ति रखते हैं—जैसे बृहस्पति। इन ग्रहोंके रूप और घटन आदिकी आलोचनासे सौर जगत्की क्रमोत्पत्तिका नियम बहुत-कुछ जाना जा सकता है।

इससे यह भी प्रमाणित होता है कि सूर्य्यके एक बार बुझकर निश्चेष्ट जड़-पिण्ड बन जानेहीसे उसके अस्तित्वका अन्त नहीं होता। बुझा हुआ सूर्य्य जीवित होकर फिर प्रकट हो सकता है और उसके द्वारा नवीन सौर जगत्की सृष्टि होनेकी सम्भावना बनी रहती है। यह पुनरुज्ज्वलित सूर्य्य एक-दम चाहे नीहारिका न हो जाय, पर भाफ या तारल्यभावको अवश्य धारण करेगा। तब इससे ग्रहों और उपग्रहोंकी नई सृष्टि क्रमशः हो सकती है। इसी तरह इस जगत्का जीर्णोद्धार प्रायः हुआ करता है और यह जीर्णोद्धार विधाताकी मङ्गलमयी अनुकम्पाहीका परिचायक जान पड़ता है इसमें कोई सन्देह नहीं।

हिन्दी क्या है ?

[बाबू राधाकृष्णदास (संवत् १९२२—१९६४ वि०)—ये भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजीके फुफेरे भाई थे जिन्होंने इन्हें हिन्दी लिखनेको उत्साहित किया था। सतीप्रताप, राजसिंह, आदि भारतेन्दुजी के अधूरे ग्रन्थोंको इन्होंने पूरा किया। इन्होंने भारतेन्दु, सूरदास, नागरीदास और बिहारीलालकी संचित्त जीवनियां लिखी हैं। ये उर्दूके भी विद्वान् थे। इनके पद्य हिन्दी और उर्दू दोनों बड़े सुन्दर होते थे। गद्यकी भाषा उत्तम होती थी।]

हिन्दोस्तान निवासी जनसाधारणकी भाषाका नाम हिन्दी है। हिन्दीके बहुत कुछ रूपान्तर हुए और वर्त्तमान कालमें भी बहुत से भेद हैं। हिन्दुस्तानको बनावट पृथ्वीके सब देशोंसे कुछ विलक्षण ही है, ध्यान देकर देखियेगा तो स्पष्ट जान पड़ेगा मानों परमेश्वरने संसारको बनाकर इस देशको सबका एग्ज़िबिशन (प्रदर्शनी) बनाया है। इस देशके जितने खंड हैं, उतनी ही चाल, उतने ही जुदे जुदे जलवायु, प्रकृति, सारी पृथ्वीका नमूना यहां मिलता है। अरबदेश सी गर्मी और रेगिस्तान इस देशमें देख लीजिये, लैपलैण्ड सी सर्दी इस देशमें अनुभव कर लीजिये, काबुलके मेवे यहां लीजिये, संसार भरके अन्न यहां खाइये, गोरेसे गोरे

कालेसे काले वीरशिरोमणि, भारतोंके पीछे भागतोंके आगे, सभी प्रकृति सभी आकारके मनुष्य यहां हैं। काश्मीर भी इसी देशमें है और मारवाड़का रेगिस्तान भी यहीं। इन्हीं कारणोंसे यहांकी भाषाके भी बहुतेरे भेद हैं। दूसरे और देशोंमें इसके विरुद्ध एक ही सा जलवायु एकही सा रूप आकार स्वभाव भाषा फलफूल अन्न सब एकही से पाये जाते हैं। इसलिये और देशोंके साथ मिलान करके इस देशका अनुमान करना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है, परन्तु क्या इससे यही सिद्ध हो गया या यही मान लेना चाहिये कि इस देशकी कोई एक भाषा नहीं है? यदि आप ध्यान देकर देखेंगे तो अवश्य ही सबके भीतर मूल एक ही पावेंगे। सब भेदान्तरोंको एकही सूत्रमें बंधा पावेंगे। वह सूत्र कौन है? हिन्दीमें चाहे जिसका भेद देखिये, चाहे उसे बंगालिनके भेषमें देखिये, चाहे पारसिनोंकी साड़ी और रूमाल पहिरे देखिये, चाहे पाश्चिमात्य बड़े बड़े घांघरे और ओढ़नीके घूंघटमें पाइये, और चाहे पायजामा और दुपट्टेकी पोशाक पहने यवनस्त्रीमें देखिये, परन्तु तनिक भी विचारपूर्वक आप जिस समय देखेंगे अनायास पहिचान लेंगे—यह तो हिन्दी है। निदान हिन्दुस्तानकी यदि कोई एक भाषा हो सकती है तो

वह हिन्दी ही है। यद्यपि हिन्दी और उर्दू ये दो भाषा इस समय प्रचलित हैं और सदासे इन दोनोंमें झगड़ा चला ही आता है, परन्तु यथार्थमें उर्दू और कुछ नहीं है केवल हिन्दी ही है। भेद इतना ही है कि हिन्दीसे और जितनी भाषा बनी हैं वे सीधे अक्षरोंमें अर्थात् देवनागरी अक्षरोंसे निकले अक्षरोंमें लिखी जाती हैं और उर्दू उलटे अक्षरोंमें, अर्थात् फ़ारसी अक्षरोंमें, लिखी जाती है। यद्यपि उर्दूमें फारसीके कठिन शब्दोंको मिलाकर लोग इतनी कठिन भाषा बना डालते हैं जितनी कि हिन्दीको लोग संस्कृत शब्दों से, परन्तु यथार्थ रूप उर्दूका देखिये तो सिवाय हिन्दीके और कुछ न पाइयेगा, क्रिया तो सब हिन्दी की निर्विवाद हुई हैं, परन्तु शब्द भी हिन्दीके बहुत से मिलेंगे।

यह साधारण नियम है कि जब जो राजा होता है और जो उसकी भाषा होती है तब वही प्रधानता प्राप्त करती है। इसीसे मुसलमान बादशाहीके समय हिन्दीमें बहुतसे फ़ारसी शब्द ऐसे मिलजुल गये कि अब वे मानों हिन्दीके ही जान पड़ते हैं। किसी भांति वे हिन्दीसे अलग नहीं किये जा सकते। यहां तक कि अच्छे अच्छे हिन्दीके लेखक भी उन्हें बेधड़क लिख जाते हैं और कभी उनपर ध्यान भी नहीं जाता। यह कुछ आश्चर्य नहीं है क्योंकि मुसलमानी राज्य तो लगभग

हजार वर्ष तक यहां रहा है। अंगरेज़ी राज्यको अभी डेढ़ ही सौ वर्षके लगभग हुए, परन्तु अंगरेज़ीके बहुतसे शब्द ऐसे मिलजुल गये हैं कि अब वे हिन्दीहीके जान पड़ते हैं—जैसे रेल, टेशन, लालटेन, टमटम, इत्यादि। परन्तु यथार्थमें देखिये तो हिन्दोस्तानकी भाषा हिन्दी ही पाइयेगा। कुछ लोगोंका यह कथन है कि प्रायः ग्रामीण लोग उर्दू ही समझ सकते हैं, संस्कृतके शब्द मिली हिन्दी नहीं समझ सकते, परन्तु यह ठीक नहीं है। कौन ऐसा हिन्दू है जो साधारणतः रामायणको न समझ सकता हो? इसमें सन्देह नहीं कि वे संस्कृतके कठिन शब्द नहीं समझ सकते परन्तु साथही वे उर्दूके भी कठिन शब्द नहीं समझ सकते। उनके लिये जैसे महाशय और महोदय हैं, वैसे ही जनाब और हुज़ूर हैं। उनसे तो यदि आप राउरे या राउर कहकर सम्बोधन कीजिये तो वे झट समझ जायंगे, परन्तु यह शब्द कहांसे आया? क्या यह संस्कृतके 'रावल' शब्दका अपभ्रंश नहीं है? योंही जब आप ध्यान देकर देखेंगे तो जनसाधारणकी बोलचालमें अधिकतर ठेठ हिन्दीके शब्दोंको या संस्कृतके बिगड़े शब्दोंको पावेंगे और जो फारसीके शब्द उनमें मिलेंगे वे भी ऐसे ही होंगे जो अब हिन्दीके साथ ऐसे मिल गये हैं मानों वे हिन्दी ही के हैं। हिन्दीका विद्यापतीकी प्रशस्ति, बहीखातेकी

लिखावट आदि देखिये, सबमें आप मुख्य शब्द हिन्दी ही संस्कृतके पाइयेगा। आप हिन्दुओंकी बात जाने दीजिये, मुसलमानी महल्ले या गांवमें चलिये और साधारण मुसलमानोंसे दस्तखत कराना आरम्भ कीजिये देखिये जितने लिखेपढ़े मुसलमान मिलेंगे उनमें अधिकता हिन्दीहीमें दस्तखत करनेवालोंकी होगी। डाकखानोंमें देखिये तो अधिक चिट्ठियां हिन्दी ही सिरनामेकी मिलेंगी। पुस्तकोंमें देखिये तो रामायणके बराबर किसी उर्दू पुस्तककी बिक्री न होगी, बरंच उर्दू अलिफलैलासे हिन्दीमें उसका अनुवाद अधिक बिकता है।

हम ऊपर सिद्व कर चुके हैं कि भिन्न भिन्न प्रकृति और जलवायुके कारण भाषामें भी भिन्नता पायी जाती है, परन्तु यथार्थमें सब भाषा हिन्दीहीके रूपान्तर हैं। सब प्रान्तके निवासी कुछ कठिनतासे हिन्दी बोलीको समझ सकते हैं और अधिकांश लोग टूटी फूटी हिन्दी बोल भी लेते हैं, परन्तु हिन्दोस्तानमें प्रतियोजन अर्थात् बारह कोसपर बोली बदलती जाती है और इसीसे बहुतसे रूप हो गये हैं। ब्रजसे चाहे जिस ओर चलिये, बराबर थोड़ा थोड़ा भेद पाते जाइयेगा। यहां तक कि बङ्गाल पहुंचते पहुंचते वह बङ्गला हो जायगी। और उधर दक्षिण पहुंचते पहुंचते गुजराती और महाराष्ट्री

हो जायगी। परन्तु क्रमसे मिलाते चलिये तो बहुत स्पष्ट भेद जान पड़ेगा। निदान हिन्दीके हिन्दोस्तानकी भाषा होनेमें कोई सन्देह नहीं है, पर इसके बहुतसे भेद हो गये हैं, जिनमें चार मुख्य हैं, १—पूरबी बनारस प्रान्तकी, २—कनौजी कानपुर प्रान्तकी, ३—व्रजभाषा —आगरा मथुरा प्रान्तकी, ४—खड़ी बोली—सहारनपुर मेरठ प्रान्तकी।

यह सब भेद तो हुए बोलचाल और प्रादेशिक हिन्दीके। अब हमें उस हिन्दीकी ओर ध्यान देना चाहिये जो सभ्य समाज, राज्यदर्बार वा साहित्यमें बरती जाती हो, और जिससे सारे देशसे सम्बन्ध हो। वह खड़ी बोली है। वर्त्तमान समयमें उर्दू और हिन्दी दोनों ही सभ्य भाषा खड़ी बोलीहीके भेद हैं।

सारे संसारकी यह रीति है कि जनसाधारणकी बोलचालसे और साहित्यकी भाषासे बड़ा भेद रहता है। साहित्यकी भाषा ऊंचे दर्जेकी रहती है; अतएव हम लोग हिन्दी भाषा उसीको कहेंगे जिसमें शुद्ध शब्द हों और जिसमें विद्या-सम्बन्धी किसी विषयके लिखनेमें कठिनता न हो। जब कि अंगरेज़ोंके बच्चोंके लिये व्याकरण आदि पढ़नेकी आवश्यकता होती है तो हिन्दोस्तानियोंकी हिन्दी ग्रन्थ समझनेके लिए हिन्दी पढ़नेकी आवश्यकता हुई तो इसमें आश्चर्य क्या है?

पर हां, साथही हम यह अवश्य कहेंगे कि कचहरीकी भाषा ऐसी ही सहज रहनी चाहिये जो सर्वसाधारणकी समझमें यथासंभव अनायास आ सके, चाहे आवश्यकतानुसार उसमें उर्दू और अंगरेज़ीके भी शब्द मिला दिये जायं।

भगवान् श्रीकृष्ण

[पं० पद्मसिंह शर्मा (संवत् १९३३—१९८९ वि०)—ये बड़े ही उत्कृष्ट विद्वान् थे। सुलेखक होनेके साथ साथ ऐसे धुरन्धर विद्वान् देखनेमें नहीं आते। हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फारसी इन सभी साहित्योंके अच्छे ज्ञाता थे। भाषा इनकी बड़ी फड़कती हुई होती थी। इनकी हिन्दी और उर्दू लेखनकलाका सौन्दर्य्य अपना सानी नहीं रखता। इनके लेखोंसे इनकी विद्वत्ता तथा गभीर अध्ययनका परिचय मिलता है। हिन्दीमें इनकी एक अपनी शैली थी जिसमें प्रवाह है, चंचलता है और उसके साथ ही गाम्भीर्य्य है। इनकी लिखी समालोचनाएं तीव्र तथा विद्वत्तापूर्ण होती थीं। 'पद्मपराग', 'प्रबन्ध-मंजरी' आदि इनकी सभी पुस्तकें उच्च कोटिकी हैं। 'सतसई-संहार' लिखनेके कारण तो हिन्दी संसारमें ये अमर हो रहे हैं। ये एक प्रतिष्ठित साहित्यसेवी थे।]

पांच हज़ार वर्ष बीते भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द इस धराधामपर अवतीर्ण हुए थे। जन्माष्टमीका शुभ पर्व प्रतिवर्ष हमें इस चिरस्मरणीय घटनाकी याद दिलाता है। आर्यजाति बड़ी श्रद्धा भक्तिसे इस परमपावन पर्वको मनाती है। विश्वकी उस अलौकिक विभूतिके गुण-कीर्तनसे करोड़ों आर्यजन अपने हृदयोंको पवित्र बनाते हैं। अपनी वर्तमान अधोगतिमें, निराशाके इस भयानक अन्धकारमें, उस दिव्य ज्योतिकी ध्यानकी दृष्टिसे देखकर सन्तोष लाभ करते हैं। आज दुःखदावानलसे दग्ध भारतभूमि घनश्यामकी अमृत-वर्षाकी बाट जोहती है। दुःशासन-निपीड़ित प्रजा द्रौपदी रक्षाके लिये कातर स्वरमें पुकारती है। धर्म अपनी दुर्गतिपर सिर धुनता हुआ 'यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति' की याद दिलाकर प्रतिज्ञाभंगकी 'नालिश' कर रहा है। जाति-जननी अत्याचार-कंसके कष्ट-कारागारमें पड़ी दिन काट रही है, गौएं अपने 'गोपाल'की यादमें प्राण दे रही हैं, जान गंवा रही हैं। इस प्रकार भगवान्के जन्मदिनका शुभ अवसर भी हमें अपनी मौतका मर्सिया ही सुनानेको मजबूर कर रहा है, आनन्द बधाईके दिन भी हम अपना ही दुखड़ा रो रहे हैं, विधिकी विडम्बनासे 'प्रभाती'के समय 'विहाग'

अलापना पड़ रहा है। संसारकी अनेक जातियां क्षुद्र और बहुधा कल्पित आदर्शोंके सहारे उन्नतिके शिखरपर आरूढ़ हो गई हैं और हो रही हैं। उत्तम आदर्श उन्नतिका प्रधान अवलम्ब है। अवनतिके गर्तमें पतित जातिके लिये तो आदर्श ही उद्धार-रज्जु है। आर्यजातिके लिये आदर्शोंका अभाव नहीं है। सब प्रकारके एकसे एक बढ़कर आदर्श सामने हैं। संसारकी अन्य किसी जातिने इतने आदर्श नहीं पाये, फिर भी—इतने महत्त्वशाली आदर्श पाकर भी—आर्यजाति क्यों नहीं उठती! यही नहीं, कभी कभी तो 'आदर्शवाद' ही दुर्दशाका कारण बन जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण संसारभरके आदर्शोंमें सर्वाङ्गसम्पूर्ण आदर्श हैं। इसी कारण हिन्दू उन्हें सोलह कला सम्पूर्ण अवतार—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' मानते हैं। अवतार न माननेवाले भी उन्हें आदर्श 'योगिराज', 'कर्मयोगी' सर्वश्रेष्ठ महापुरुष कहते हैं। मनुष्य-जीवनको सार्थक बनानेके लिये जो आदर्श अपेक्षित है वह सब स्पष्ट रूपमें प्रचुर परिमाणमें श्रीकृष्णचरितमें विद्यमान है। ध्यानी, ज्ञानी, योगी, कर्मयोगी, नीति-धुरन्धर नेता और महारथी योद्धा, जिस दृष्टिसे देखिये, जिस कसौटीपर कसिये, श्रीकृष्ण अद्वितीय ही प्रतीत

होगी। संस्कृत भाषाका साहित्य कृष्णचरितकी महिमासे भरा पड़ा है। पर दुर्भाग्यसे हम उसके तत्त्वको हृदयङ्गम नहीं करते। हम 'आदर्श'का अनुकरण करना नहीं चाहते, उलटा उसे अपने पीछे घसीटना चाहते हैं और यही हमारी अधोगतिका कारण है। यदि हम कर्मयोगी भगवान् कृष्णके आदर्शका अनुसरण करते तो आज इस दयनीय दशामें न होते। महाभारतके श्रीकृष्णको भूलकर 'गीत-गोविन्द'के कृष्णका काल्पनिक चित्र निर्माण करके उस आदर्श महापुरुषको 'चौरजारशिखामणिः' की उपाधि दे डाली है। पतनकी पराकाष्ठा है! कृष्णचरित्रके सर्वश्रेष्ठ लेखक श्रीबंकिमचन्द्रने एक जगह खिन्न होकर लिखा है—

"जबसे हम हिंदू अपने आदर्शको भूल गये और हमने कृष्णचरित्रको अवनत कर लिया तबसे हमारी सामाजिक अवनति होने लगी, जयदेव (गीतगोविन्द-निर्माता) के कृष्णकी नक़ल करनेमें सब लग गये पर 'महाभारत'के कृष्णको कोई याद भी नहीं करता है"।

श्रीकृष्णको हिन्दूजाति क्या समझ बैठी है, इसका उल्लेख श्रीबङ्किमने इस प्रकार किया है—

"पर अब प्रश्न यह है कि भगवान्‌को हम लोग क्या समझते हैं। यही कि वह बचपनमें चोर थे, दूध दही मक्खन चुराकर खाया करते थे। युवावस्थामें

व्यभिचारी थे और प्रौढ़ावस्थामें वंचक और शठ थे। उन्होंने धोखा देकर द्रोणादिके प्राण लिये। क्या इसीका नाम मानव-चरित्र है? जो केवल शुद्ध सत्त्व है, जिससे सब प्रकारकी शुद्धियां होती हैं और पाप दूर होते हैं, उसका मनुष्य देह धारण कर समस्त पापाचरण करना क्या भगवच्चरित्र है?"

"सनातन-धर्मद्वेषी कहा करते हैं कि भगवच्चरित्रको ऐसी कल्पना करनेके कारण ही भारतवर्षमें पापका स्रोत बढ़ गया है। इसका प्रतिवाद कर किसीको कभी जय प्राप्त करते नहीं देखा है। मैं (बंकिमचन्द्र) श्रीकृष्णको स्वयं भगवान् मानता हूं और उनपर विश्वास करता हूं। अंग्रेजी शिक्षासे मेरा यह विश्वास और दृढ़ हो गया है, पुराणों और इतिहासमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चरित्रका वास्तवमें कैसा वर्णन है यह जाननेके लिये मैंने जहांतक बना इतिहास और पुराणों का मन्थन किया; इसका फल यह हुआ कि श्रीकृष्णचन्द्रके विषयमें जो पाप-कथाएं प्रचलित हैं वह अमूलक जान पड़ीं। उपन्यासकारोंने श्रीकृष्णके विषयमें जो मनगढ़न्त बातें लिखी हैं उन्हें निकाल देनेपर जो कुछ बचता है वह अति विशुद्ध, परम पवित्र, अतिशय महान् मालूम हुआ है। मुझे यह भी मालूम हो गया है कि ऐसा सर्वगुणान्वित और

सर्वपापरहित आदर्श चरित और कहीं नहीं है। न किसी देशके इतिहासमें और न किसी काव्यमें।"

श्रीकृष्ण-चरितका मनन करनेवालोंको श्रीबंकिम-चन्द्रकी उक्त सम्मतियोंपर गम्भीरतासे विचार करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णके चरित्रके रहस्यको अच्छी तरह समझकर उसके आधारपर यदि हम अपने जाति-जीवनका निर्माण करें तो सारे संकट दूर हो जायं। उदाहरणके तौरपर देखिए कि

महाभारतके युद्धकी पूरी तय्यारियां हो चुकी हैं, सन्धिके सारे प्रयत्न निष्फल हो चुके हैं, धर्मराज युधिष्ठिरका सदय हृदय युद्धके अवश्यम्भावी दुष्परिणामको सोचकर विचलित हो रहा है, इस दशामें भी वह सन्धिके लिये व्याकुल हैं, बड़ी ही कठिन समस्या उपस्थित है, श्रीकृष्ण स्वयं सन्धिके पक्षमें थे। सन्धिके प्रस्तावको लेकर उन्होंने स्वयं ही दूत बनकर जाना उचित समझा। दुर्योधन जैसे स्वार्थान्ध कपट-कुशल और 'जीते जुआरीके' दरबारमें ऐसे अवसर पर दूत बनकर जाना, जानसे हाथ धोना, दहकती हुई आगमें कूदना था। श्रीकृष्णके दूत बनकर जानेके प्रस्तावपर सहसा कोई सहमत न हुआ। दुर्योधनका कुटिलता और क्रूरताके विचारसे श्रीकृष्णका वहां जाना किसीने उचित न समझा, इसपर खूब वादविवाद हुआ। उद्योग-पर्वका वह

प्रकरण भगवद्यान-पर्व' बड़ा अद्भुत और हृदयहारी है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्णके सन्धिप्रस्तावको लेकर जानेका वर्णन है। श्रीकृष्ण जानते थे कि सन्धिके प्रस्तावमें सफलता न होगी, दुर्योधन किसीको माननेवाला जीव नहीं है। यात्रा आपज्जनक है, प्राण-संकटकी सम्भावना है, पर कर्तव्यानुरोधसे जानपर खेलकर भी उन्होंने वहां जाना ही उचित समझा।

दुर्योधनको जब मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण आ रहे हैं तो उसने श्रीकृष्णको साम, दाम, दण्ड, भेद द्वारा जालमें फंसानेका कोई उपाय उठा न रक्खा। मार्गमें जगह जगह उनके स्वागतका धूमधामसे प्रबन्ध किया गया। रास्तेकी सड़कें खूब सजाई गईं। दुर्योधन जानता था कि सब कुछ श्रीकृष्णके हाथमें है, जो वह चाहेंगे वही होगा, उनकी आज्ञासे पाण्डव अपना सर्वस्व त्याग कर सकते हैं, श्रीकृष्णको काबूमें कर लिया जाय तो बिना युद्धके ही विजय हो सकती है, श्रीकृष्णके बलबूतेपर ही पाण्डव युद्धके लिये सन्नद्ध हो रहे हैं। निदान दुर्योधनने श्रीकृष्णको फंसानेकी प्राणपणसे चेष्टा की। पर 'अच्युत' श्रीकृष्ण अपने लक्ष्यसे कब चूकनेवाले थे। सन्धिका प्रस्ताव स्वीकृत न हुआ। दुर्योधन, कर्ण, शकुनि आदि अपने साथियोंके साथ सभासे उठकर चले गये। जब

उसने साम, दामसे काम बनते न देखा तो आवश्यक दण्ड देने—कैद कर लेनेका षड़यन्त्र रचा, उन्हें अपने घरपर निमन्त्रित किया। दुर्योधनकी इस दुरभिसन्धिको विदुर आदि दूरदर्शी ताड़ गये, उन्होंने श्रीकृष्णको वहां जानेसे रोका। श्रीकृष्ण स्वयं भी सब कुछ समझते थे, पर वह जिस कामको आये थे उसके लिये एक बार फिर प्राणपणसे प्रयत्न करना ही उन्होंने उचित समझा, वह दुर्योधनके घर पहुंचे, और निर्भयतापूर्वक सन्धिका औचित्य समझाया। पाण्डवोंकी निर्दोषता और दुर्योधनका अन्याय प्रमाणित किया, पर दुर्योधन किसी तरह न माना। श्रीकृष्ण उसे फटकारकर चलने लगे, दुर्योधनने भोजनके लिये आग्रह किया, इसपर जो उचित उत्तर भगवान् श्रीकृष्णने दिया वह उन्हींके योग्य था। कहा कि या तो प्रीतिके कारण किसीके यहां भोजन किया जाता है, या फिर विपत्तिमें—दुर्भिक्षादि संकटमें। तुम हमसे प्रेम नहीं करते और हमपर कोई ऐसी आपत्ति नहीं आई है, ऐसी दशामें तुम्हारा भोजन कैसे स्वीकार करें? इस प्रत्याख्यानसे क्रुद्ध होकर दुर्योधनने उन्हें घेरकर पकड़ना चाहा, पर भगवान् श्रीकृष्णके अलौकिक तेज और दिव्य पराक्रमने उसे परास्त कर दिया, वह अपनी धृष्टतापर लज्जित होकर रह गया।

पाण्डव और कौरव दोनों ही श्रीकृष्णके सम्बन्धी थे, दोनों ही उन्हें अपने पक्षमें लानेके लिए समान-रूपसे प्रयत्न-शील थे। 'लोक-संग्रह' के तत्त्वसे भी भगवान् अनभिज्ञ न थे, पर उन्होंने 'सर्व-प्रियता' या हरदिल-अज़ीज़ीमें फंसकर अपने करारेपनको दाग़ नहीं लगाया। मेल मिलापकी मोहमायामें भूलकर न्यायको अन्याय और धर्मको अधर्म नहीं बताया। निरपराधको अपराधी बताकर अपनी 'समदर्शिता' या 'उदारता'का परिचय नहीं दिया। श्रीकृष्ण अपने प्राणोंका मोह छोड़कर दुर्योधनको समझाने गये और भयानक संकटके भयसे भी कर्तव्यपराङ्मुख न हुए।

आर्यजातिके लीडर और शिक्षित युवक श्रीकृष्ण-चरितको अपना आदर्श मानकर यदि अपने चरित्रका निर्माण करें तो देश और जातिका उद्धार करनेमें समर्थ हो सकेंगे। परमात्मा ऐसा ही करे।

पुस्तकों की महिमा

[उपाध्याय हरिश्चन्द्र शर्म्मा (सं० १९३३—१९८५ वि०)—ये स्वर्गीय प्रेमघनजी के चौथे अनुज थे। आध्यात्मिक विषयोंके अध्ययनमें सदा प्रवृत्त रहते थे, अतएव इनके निबन्धोंमें अध्यात्म विषयक विचार अधिकतासे पाये जाते हैं। ये प्रकृतिके भी एक बड़े उपासक थे, जिससे इनके लेखोंमें प्रकृतिका चित्रण बड़ा ही रोचक हुआ है। साहित्यिक विषयोंपर भी इनके बहुतसे लेख हैं जो ये आनन्दकादम्बिनी मासिक पत्रिकाके लिये लिखा करते थे। लेखोंमें संस्कृत शब्दोंका प्रयोग अत्यधिक होनेके तथा वाक्य कहीं कहीं बहुत बड़े होनेके कारण भाषामें कुछ कठिनता आ गयी है।]

मुझसे यदि कोई पूछे कि हम किस पदार्थ की सम्पत्ति से अपने को सम्पन्न वा धनी मानते हैं तो हम यही कहेंगे कि पुस्तकों के सञ्चय से सदा सञ्चित रहने से, क्योंकि इससे अधिक और कौन सुख है कि शान्त मन कमरे के किसी कोने में उन पुस्तकों को देखें जिन्हें हमारे कल्याण और मंगल के हेतु कवि ने रचा है, वा जो हमें हंसी और दिल्लगी की बातों से सन्मार्ग में प्रवेश कराने का प्रयत्न करती हैं, वा जो अपनी गम्भीर गिरा से हमें भी गम्भीर होने की शिक्षा देती हैं। कोई कहती कि उठो काम करो, समय थोड़ा है और कार्य्य

बहुत है, कोई हमें परलोक वा इसी लोक की चिन्ता कराती, कोई इस आत्मा के अद्भुत स्वरूप को दरसा चकित कर छोड़ देती है।

इसी से वाग्मी सिसेरो (Cicero) कहता है कि "वह कमरा जिस में अच्छी पुस्तकें नहीं हैं आत्मारहित शरीर सा है"। अपने देश के बड़े आदमियों के कमरे में जब कभी मैं गया वा दैव वश यदि दो तीन दिन रहने की आवश्यकता हुई और पास में कोई पुस्तक नहीं रही, तो उनके यहां तुलसीकृत रामायण वा प्रेमसागर के अतिरिक्त और कोई ग्रन्थ न पाया और वह भी न मिलता यदि भारतवर्ष की औरतें आस्तिक, ईश्वर-परायण, उनके गृह में न होतीं।

वे इस सम्पत्ति को नहीं समझ सकते क्योंकि इस सुख का अनुभव नहीं है। सर जोन हारशेल (Sir John Harshel) ने एक कहानी कह अपने देश के ग्रामीणों को इस रस में कैसा कुछ आनन्द मिलता है यह दिखाया है। एक गांव में किसी लोहार ने 'धर्म्म की विजय' नामक रिचर्डसन (Richardson) का उपन्यास किसी भांति पाया। इस पुस्तक को सन्ध्या के शान्त समय में उच्चस्वर से ध्यानावस्थित ग्रामीणों को सुनाया करता। यद्यपि यह पुस्तक छोटी नहीं थी तोभी प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने सब कथा को आद्यन्त सुना

श्रोर जब नायक नायिका का संयोग दैववश हुआ श्रीर वे अपने गृह में गार्हस्थ्य धर्म्मानुसार स्थित हुए, तो सारी सभा मारे आमोद के शोर मचाने लगी श्रीर कुछ ऐसी उस कथा में निमग्न थी कि गिरजाघर की ताली ले, शादी की खुशी का घंटा बजाया तथा बहुतों ने गिरजा घर में जा पाणिग्रहण के पुनीत भजन को गा कर जगदीश्वर को अनेक धन्यवाद दिया।

यह पुस्तकों ही में शक्ति है कि चाहे घर में बैठा हो, किन्तु विश्व के सभी स्थलों में पहुंच जाय। किसी ने सच कहा है—

बैठ कर सैर मुल्क की करना।
यह तमाशा किताब में देखा॥

चाहे अफ्रिका के तीव्र सूर्य्य से सन्तप्त रजत से चमकते सहारा के बृहत् मरुस्थल के निवासियों के दुःख का अनुभव करें, चाहे अमेरिका की प्रशस्त झीलों की प्रशान्त शोभा को देखें, चाहे सहस्रों रेल की ट्रेनों सा नाद करते हुए नायग्रादि के बृहत् प्रपातों के गम्भीर घोष को सुनें, चाहे घने लण्डन की वीथियों में घूमें वा सुन्दर पेरिस के सौन्दर्य्य को सराहें, अथवा कश्मीर के खेतों में बैठ केसर की सुगन्धि घ्राण कर, हंसते हंसते विह्वल हो जायं, वा नगाधिराज हिमालय के प्रोत्तुङ्ग शिखरों पर आरूढ़ हो परमात्मा के औदार्य्य से रम्य

वसुन्धरा की शोभा निरखें, वा उसकी परमप्रशान्त गम्भीरता को सराहें, अथवा हिम की सुहृहत् चट्टानों के गिरने के गम्भीर शब्द को सुन मृगाधिराज के गर्ज्जन की शंका करें, चाहे चित्रकूट की रम्य स्थलियों में तपस्वी के बालकों के साथ साथ खेलें, वा इन्द्र वन सौन्दर्य्य से सतराती स्वर्ग की अप्सराओं के अलौकिक नृत्य को देखें, चाहे महाभारत का वह युद्ध जो इस भारत के सर्वनाश का प्रथम चरण था, देखने को कुरुक्षेत्र में बैठ कौरव और पाण्डव का भयङ्कर हुंकार सुन दुखी हों, चाहे ग्रीस (Greece) के परम अद्भुत दार्शनिकों और कवियों से संलाप कर बुद्धिमान हों, और चाहे रोम (Rome) की भयङ्कर सेनाओं का भीषण कर्म पढ़ें और उनके साथ एक देश के पश्चात् दूसरे देशों को पराजित करें, चाहे प्यारे शेक्सपियर की परम अलौकिक और गूढ़ कविता में लीन हो किञ्चित काल के लिये सारे विश्व को विस्मरण कर जायं, वा मिल्टन की गम्भीर गिरा में निमग्न हो जायं।

इसमें सन्देह नहीं कि पुस्तकों के ही कारण हम सब भी योगियों के सुख का अनुभव कर सकते हैं, अर्थात् चित्त के एकाग्र होने से हम सब अपनी आत्मा में लीन हो जाते हैं, जो सुख निर्विकल्प समाधि वा त्रिकुटी में स्थिति या भक्तिभावनाओं से पूर्ण हृदय के

अतिरिक्त और कहीं सुलभ नहीं है। इसी से विद्या का पढ़ना वा इस विषय का मनन करना असम्प्रज्ञात योग तथाच सात्त्विक सुख माना गया है, क्योंकि इसके भी आदि में विष सी कटुता और अन्त में पीयूष सी माधुरी है।

आज कल मनुष्यों के सुख की सामग्री के बहुत बढ़ जाने में सब से अधिक यह लाभ है कि हम उत्तम से उत्तम पुस्तक थोड़े मूल्य में पा सकते हैं, क्योंकि यन्त्रालय तो राक्षस सा हो गया जिसकी सन्तानों की सीमा नहीं है। यदि उस उदार दैव ने भोजन और वस्त्र से सम्पन्न किया हो तो मनुष्य इन पुस्तकों की महिमा से बादशाही कर सकता है वा उससे भी कुछ और अनुपम और अलौकिक सुख अनुभव कर सकता है, क्योंकि जब इस लोक की स्थिति हमी सब पर है तो निःसन्देह हम बादशाह हैं, यदि जी में उनसे कुछ विशेष संतुष्ट हैं; वा यों कहिये कि यदि सहस्रों नृपति क्षण के क्षण में आह्वान किये जा सकते हैं, जो अपने दुख सुख, जीत वा हार के सच्चे इजहार प्रसन्नता पूर्वक कहने लगते हैं तो फिर शाहनशाही इसे हम क्यों न कहेंगे? यदि दैव ने इन्हें परम विस्तीर्ण राज्य दिया है तो उन्हें भावनाओं के अनन्त लोक का स्वामित्व दिया है; यदि इन्हें दो चार सहस्र पार्श्ववर्ग दिया है तो उन्हें अनन्त पुस्तकों का

साथ, जो इनसे कहीं सच्चे सुहृद हैं; यदि उन्हें धन धान्य से सम्पन्न किया तो इन्हें बुद्धि और विज्ञान से भूषित किया है।

निदान पुस्तकों के हम सब बड़े ऋणी हैं। सर रिचर्ड डो बर्ग (Richard de Burg) कहते हैं कि "ये सब अध्यापक हम को बिना दण्ड वा लगुड़ प्रहार के, कुटिल शब्द वा क्रोध किये और बिना द्रव्य लिये हुए भी शिक्षा दे सकते हैं। यदि आप इनके सन्निकट जाइये, तो ये सोते न मिलेंगे, यदि आप जिज्ञासू हैं और इनसे प्रश्न करते हैं, तो ये आप से कुछ परोक्ष न रक्खेंगे, यदि आप इनके रूप को यथार्थ न समझिये तो ये भुनभुनायंगे नहीं; यदि आप अज्ञानी हैं, तो वे आप को मूर्खता पर हंसेंगे नहीं। इससे बुद्धि, ज्ञान से पूर्ण पुस्तकालय इस लोक की समस्त सम्पत्ति से बहुमूल्य है और किसी स्पृहणीय वस्तु की तुलना उससे नहीं की जा सकती। सच तो यह है कि जो कोई सत्य, आनन्द, धर्म्म वा विज्ञान को जानना चाहता है तो उसे निश्चय पुस्तकों से प्रेम करना चाहिये"। जिन्हों ने पुस्तकों को अपना मित्र वा सर्वस्व धन मान रक्खा है वे कहते हैं कि "ये हमारे मित्र जो परम शिष्ट और प्रिय हैं सभी काल और देश के हैं। ये सब अपनी बुद्धि और पराक्रम से जैसे रणक्षेत्र में प्रसिद्ध थे वैसेही नीति-नैपुण्य तथा विज्ञान-

चातुर्य्य में ! इन मित्रों के पास बिना क्लेश हो मनुष्य पहुंच सकता है, हम जब चाहें इनसे संलाप करें और जब चाहें इन्हें विसर्जन कर दें, ये कभी दुखदाई नहीं, परन्तु जब हम इनसे प्रश्न करते तो ये उसका तुरन्त उत्तर देते। कोई हमें बीती कथा सुनाते, कोई हमें प्रकृति के रहस्य को बताते, कोई हमें कैसे इस लोक में रहना चाहिये सिखाते और कोई किस भांति इस शरीर को त्यागना चाहिये जताते, कोई अपनी ललित कविता से शोक को छिन्न भिन्न कर प्रसन्न करते। कोई धैर्य्य देते और कोई इन बलवान इन्द्रियों को कैसे वश करें सिखाते, और कहते कि केवल अपनी शक्ति पर निर्भर रहना भला है। ये हम सब को सभी शास्त्रों के कुञ्जों में ले जाते और विपत्ति काल के लिये ऐसी सच्ची सम्पत्ति देते जिस पर हम पूर्ण रूप से निर्भर हो सकते हैं। इन सब सत्कर्म्मों के अर्थ ये हम से केवल इतनाही चाहते हैं कि हम इन्हें मकान के किसी कोने में रख दें जिसमें ये सकुशल शान्तिपूर्वक स्थित रहें, क्योंकि ये हमारे शान्त मित्र जन एकान्त में विशेष प्रसन्न रहते बनिस्बत जन सन्दोह के।"

पुस्तकों की अद्भुत महिमा है। इनकी कृपा से चाहे सनातन षोड़शकलावाले अद्भुत ब्रह्म की कथा उपनिषदों में देख पवित्र हों ; चाहे भगवान् वाल्मीकि

की पुनीत गिरा की पवित्र सरिता में स्नान कर, दोनों लोक को सम्पादन करें; चाहे रसिक शिरोमणि जयदेव जी के प्रेम और भक्ति से पूर्ण गीतगोविन्द को पढ़ भगवान् कृष्ण की भक्ति करें; चाहे श्रीसूरदास जी के भक्ति भावनाओं से भरे बृहत् सरोवर में मज्जन करें; चाहे दुष्यन्त के साथ पुनीत तपोवन में जा तपस्विनी कन्यकाओं से अतिथि सत्कार करावें, वा इस अभागे कलियुग में सत्ययुग की दृष्टि देखें; चाहे पुरूरवा के उत्कट प्रेम की अवस्था देख, उसकी प्रगल्भता को सराहें; चाहे यक्ष के प्रिय मेघ के साथ आकाश मार्ग से सारे भारतवर्ष की सैर कर आवें, या अप्सराओं को भी अपने रूप और दाक्षिण्य से लजानेवाली सौदामिनी सी दमयन्ती के सन्निकट हंस बन संदेश ले जायं या माघ काव्य के दूरबीन से भगवान् कृष्ण से महानुभाव भी इस लोक की आपत्ति में पड़, अपने रूप को विस्मरण कर गए देख, इस माया के दैवी होने का प्रमाण देखें; चाहे किरात के राजनैतिक कौशल्य तथा गूढ़ भावों को पढ़ अचम्भित हों, या भीम के भीम पराक्रम को वेणीसंहार में पढ़ वीर रस पूर्ण हृदय करें और देखें कि हमारे यहां के क्षत्री कैसे पराक्रमी और शूर वीर थे; चाहे उत्तररामचरित की श्री जानकी जी के अपार दुःख के साथी हों; चाहे कादम्बरी की

चाण्डाल दारिका की अनुपम शोभा को देखें और विलक्षण शुक की कहानी सुन विस्मित हों; या चन्द्रावली के असीम प्रेम की सराहें वा सत्य हरिश्चन्द्र के साथ बैठ पवित्र वाक्यों से शरीर को पवित्र करें; दिलीप के साथ तपोवन में कामदुह सौरभेयी को चरावें, वा मुद्राराक्षस में चाणक्य की कुटिल नीति से कराहें; या न्यायाध्यक्ष बन मृच्छकटिक में अर्थ निरूपण करें, वा विष्णु शर्म्मा के मित्र हिरण्यक के अनेक मित्रों से मिलें; और चाहे दण्डी के सरस गद्य को पढ़ इस मृत्युलोक को स्वर्ग मान बैठें।

जिन्हें परमात्मा ने प्रचुर द्रव्य दे महिमावान भी बनाया है उन्होंने भी यही कहा कि वे विशेष सुखी पुस्तकों ही से अपने को मानते थे, जैसे लार्ड मेकाले (Lord Macaulay)। यद्यपि सब प्रकार से भगवान् ने उन्हें सुखी और धनवान बनाया था, पर तो भी पुस्तकों में निष्ठा जैसी कुछ उनकी थी, उनके योग्य स्वसासुत उनके जीवन-चरित्र में लिखते हैं कि "वे पूर्व कवियों या दार्शनिकों के कैसे कुछ वाधित थे और कैसा प्यार करते थे सिवाय उनके और कौन कह सकता है। वे कहते थे कि वे पुस्तकों के संख्यातीत ऋणी थे,—किस भांति इन्होंने सन्मार्ग में प्रवेश कराया, कैसे इन सबों ने हृदय की उत्तम भावनाओं से तथा उत्कृष्ट

खरूपों से पूर्ण किया, कैसे वे हम सब के सभी काल और अवस्था में साथी रहे, शोक में सन्तोष देते, और बीमारी में उपमाता सी सेवा करते! एकान्त के साथी ये सहृदय मित्र लोग सदा एक ही रूप में देख पड़ते थे जो हम सब के धन और दरिद्रता में, तथा कीर्ति और अविख्यात अवस्था में भी सदा साथ देते हैं। इस सुख के (अर्थात् पढ़ने के सुख के) नीचे ही वे अपनी कीर्ति और पारितोषिक को मानते थे। पढ़ने के सुख को गिबन (Gibbon) कहता है कि वह सारे भारतवर्ष की सम्पत्ति से भी न बदलना चाहेगा।"

इतिहासों के पढ़ने से हम सब बिना वृद्ध हुए वा बाल पके या चश्मों में झिल्ली पड़े हुए भी सहस्रों वर्ष की कथा जान सकते हैं; और बिना दुःख उठाए सभी प्रकार के दुःख को देख सकते हैं। इसकी महिमा हमारे पुरातन भारतीय मनुष्यों को नहीं समझ पड़ी, इसका कारण यह है कि वे सदा वर्तमान की चिन्ता करते और भूत भविष्य को अशोचनीय समझते थे। यद्यपि पुराण द्वारा हम सब बहुत कुछ पुरातन काल की कथा जान सकते हैं, पर तो भी ये इतिहास नहीं कहे जा सकते।

इतिहास का पढ़ना मनुष्य को परमावश्यक है ताकि देखे कि इस नश्वर लोक में कैसे कैसे महिमावान,

विद्वान्, कवि, तथा अद्भुत दार्शनिक और क्रूर मनुष्य हुए हैं। कोई तो राज्य और कीर्त्ति की वृद्धि करने में अपने प्राण को खोता; कोई मनुष्य लोक को दुखी करने में अपना परम कर्तव्य समझता; कोइ योग्य विचक्षण नृपति सारे लोक को विद्वान् और सुखी करना चाहता; कोई अपने मत में लाने के हेतु सहस्रों के कण्ठों पर अपना कुटिल कृपाण फेरता है। इन सब बातों के पढ़ने से क्या हम यह न कह सकेंगे कि ये सब अपनी सी गा गए पर हुआ वही जो उस चतुर्मुख ब्रह्मा ने चाहा, एवं मनुष्यों की विविध भावनाओं का अनेक परिणाम देख हम उन्हें त्याग करने की इच्छा करेंगे। जगत से ये सब महाशय न कुछ ले जा सके हैं और न कोई ले जा सकता है, केवल भली वा बुरी मनुष्य की कथा मात्र अवशेष रह जाती है।

प्रगल्भ निरक्षर उत्तरीय मनुष्य (Northmen or Norsemen) अक्षरों में देवी शक्ति मानते थे। अरबी में एक कहावत है कि पण्डित के एक घंटे के तुल्य मूर्ख का सारा जीवन है, क्योंकि घंटे भर में जितना विद्वान् विचार सकता है उसे मूर्ख सारी उम्र भर में भी न सोच सकेगा। इससे उन महाशयों को धन्य समझना चाहिये जिन्हें भगवान् ने लिखने पढ़ने की शक्ति दी है, यद्यपि यह सत्य है कि केवल पुस्तकों ही के पढ़ने से मनुष्य कुछ

लाभ नहीं उठा सकता यदि उनके सिद्धान्तों पर आरूढ़ न हो।

विचक्षण ब्लेकी (Blackie) कहता है कि पुस्तक केवल एक यन्त्र है जिसे यदि हम काम में लाना जानते हैं तो सुख अनुभव हो सकता है। इसी से नीतिज्ञ चाणक्य कहते हैं कि "लोचनाभ्याम् विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति", अर्थात् जिसे परमात्मा ने स्वयं प्रज्ञा नहीं दी है उसके लिये शास्त्र तो अन्धे के हाथ में आरसी है। किन्तु यदि विधाता ने बुद्धि वैभव से सम्पन्न किया हो तो पुस्तकों के विस्तीर्ण उद्यान में केवल सम्पत्ति और कीर्ति का सञ्चय करना इसका एकान्त फल नहीं मानना चाहिये, पर उन महौषधिरूपी महावाक्यों के गूढ़ तत्त्वों के अर्थ को मनन करना चाहिये और यथाशक्ति उन पर दृढ़ रूप से स्थित होने का प्रयत्न करना चाहिये, जिसमें सदा के लिये सुखी हो जाय। वा यों कहिये कि शास्त्रों के अगाध रत्नालय में केवल कोष भरनेवाले रत्नों के अर्थ डुब्बी लगाना उचित नहीं है, पर उस अनुपम और अपूर्व रत्न के प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये, जिसमें इस जगत के महा जंजाल से सदा के लिये छुटकारा हो जाय।

जैसे हम चुने चुने मनुष्यों से सम्बन्ध रखते हैं वैसे ही पुस्तकों को भी चुन कर पढ़ना चाहिये, क्योंकि जैसे

उनकी सृष्टि अपरम्पार है वैसे ही पुस्तकों की भी है, और यह सम्भव नहीं कि आप सब को पढ़ लीजिये। इससे पण्डितों से या पुस्तकों से सम्मति लेना आवश्यक है कि कौन सी पुस्तक पढ़ने, कौनसी छोड़ने के योग्य हैं, क्योंकि कोई तो इनमें हरे भरे शस्य पूर्ण क्षेत्र सी, कोई मरुस्थल और कोई ऐसी हैं कि जङ्गल के सदृश, जिनमें यदि चाहिये तो सारे जीवन भर घूमते रह जाइये और फिर भी उनके पूरे ज्ञाता नहीं हो सकते। कोई झरने सी अपने मधुर निनाद से आप के कर्ण कुहर को संतुष्ट करतीं, कोई तूफ़ान सी हमें इस जगत जञ्जाल के महाजाल को दिखातीं, कोई अचल प्रतिष्ठावाले समुद्र सी हैं जिनमें जो चाहिए वह वस्तु प्राप्त कर सकते हैं। कोई नगाधिराज हिमालय सी सभी प्रकार की शोभा से सम्पन्न हैं। इससे कोई तो ऐसी हैं जिन्हें भली भांति कई बार पढ़ना चाहिए और इनके भावों को मनन करना चाहिये, कोई ऐसी हैं कि जो केवल आद्यन्त पढ़ डालने के योग्य हैं, फिर कोई ऐसी हैं कि जिनके केवल कुछ अंश पढ़ने चाहियें, और कोई अरेबिया की भूमि सी हैं जो केवल कहीं कहीं पढ़ने के योग्य होती हैं।

पुस्तकों की महिमा एकान्त स्थलियों में देख पड़ती है। मैंने देखा है कि किसी समय कार्य्यवश सारा दिन परम नीचों के साथ बीतता था—जिस कारण मैं अपने

को परम दुःखो और नीच सा समझता—पर जब इन सब झंझटों से अवकाश मिलता और प्यारी रात्रि की सहचरी सन्ध्या में सन्ध्या कर शकुन्तला पढ़ना आरम्भ करता तो कुछ ऐसा समझ पड़ता था कि किसी दयालु गन्धर्व को कृपा से नन्दनवन के अनूठे उद्यान में घूम रहा हूं, और उन अलौकिक सरल स्वभाव वाली तपस्विनी बालिकाओं के सच्चरित्र को देख सारे दिन भर का परिश्रम और दुःख, शरद के मेघ सा छिन्न भिन्न हो जाता था, और फिर यह अन्तःकरण रूपी आकाश अपनी प्राकृतिक शोभा को धारण करता था।

निदान ये हमारे प्राचीन मित्र तो सदा दुःख सुख में साथी हैं—मनुष्यों से चाहे खटपट हो पर ये तो सदा एक ही रूप में रहते—यदि हम हंसना चाहते तो ये सब हंसाते, रोते तो ये समझाते, यदि किसी के क्रूर बचनों से हृदय देश में व्रण सा हो गया है तो ये तुरन्त ज्ञान का मरहम लगाते, यदि वियोग से आकुल और अधीर हो रहे हैं तो लड़कपन कह लज्जित करते, और यदि किसी भारी दुःख से पीड़ित हैं तो वे ज्ञान की कहानी सुना, उसकी नश्वरता का बोध कराते और कहते कि न सुख रहा है और न दुःख ही रह जायगा, तुम्हारा उद्वेग और चिन्ता केवल तुम्हारे हाथ है, फिर वह भी व्यर्थ है क्योंकि वह करुणावरुणालय जगदीश्वर,

सिवा मङ्गल के कभी अमङ्गल हम सभों का न करेगा ।

जिन्हें भगवान ने विद्या में गति नहीं दी है वे चाहे कैसेह द्रव्यवान और शक्तिमान क्यों न हों अकसर उनका समय उनपर भार सा आ गिर पड़ता है, और वे घबड़ाते, झोंखते और मनहीमन में सोचते हैं कि कौन सी नई तफ़रीह वा खुराफ़ात करनी चाहिये जिसमें जी लगे और कुछ मज़ा उठे, क्योंकि मनुष्य क्या, सारा जीव लोक चण भर भी निष्कार्य्य बैठ नहीं सकता और यदि निष्कार्य्य बैठा तो प्रति चण उसके अधःपात की शंका है। इसी से यह मसल कही है क "अ। मनुष्य का मस्तिष्क तो पिशाच का डेरा सा है"।

बहुत से द्रव्यवान, घर बठे ही स्वतः अपने को बुद्धिमान मान द्रव्य के मद में कह दिया करते हैं कि पुस्तकों के पढ़ने से क्या लाभ, हम तो घर ही बैठे एक के दो कर लिया करते हैं। अर्थात् विद्या सीखने का प्रयोजन केवल धन उपार्जन उन मूढ़ों ने समझ रखा है, पर वे नहीं जानते कि जो मनुष्य मूर्ख है वह एक प्रकार से मनुष्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शिरोभाग ही इसका और पशुओं से विलचण है, और वह विद्या शून्य होने से शिर हीन है, यद्यपि जीवित है। और, विद्या तो जानने को कहते हैं और जानना तत्त्वज्ञान है,

यानी प्रकृति और पुरुष के भेद को सम्यक रीति से समझना है और यही विद्या के पढ़ने का परम फल है।

जैसा परमात्मा ने इस अद्भुत ब्रह्माण्ड को सिरजा वैसाही इसका भोक्ता मनुष्यको बनाया, किन्तु वह भी जगत के इन सुखों का यथोचित भोग नहीं कर सकता यदि शास्त्र निरीक्षण द्वारा उसकी बुद्धि परिष्कृत न की गई हो।

एक हमारे भद्र मित्र पादरी साहब यह कहते थे कि यदि हिन्दुस्तानी अमीर भी हों तो उन्हें अमीरी करना नहीं आता और इसका अविद्या ही मुख्य कारण कहा करते थे। यह सच है क्योंकि जिनके घर में भगवान की दया से खाने पीने की काफ़ी है, उनका लड़का यदि हिसाब किताब थोड़ा समझ सकता है तो वे गर्वपूर्वक कहते हैं कि लड़का काफ़ी पढ़ चुका और इससे अधिक पढ़ने से सिवाय किरिस्तान, ऐयाश, वा अमीर होने के और कुछ विशेष परिणाम नहीं हो सकता; पर वे नहीं जानते कि उन्होंने अपने पुत्र को उस स्वर्ग की दृष्टि से विमुख किया जो फिर उसे कथमपि प्राप्त होने वाली नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि शास्त्रों के पढ़ने में उतनाही परिश्रम करना पड़ता है जितना पर्वतों के उन्नत-शिखर की चढ़ाई में, जो हमारे देश के रईसों के मान का नहीं। परन्तु यदि वे किसी

प्रकार उसकी चोटी पर चढ़ जायं या कुछ भी ऊंचे पहुंच जायं तो निःसन्देह उस उदार जगदीश्वर को प्रत्येक पद पर सराहेंगे और देखेंगे कि नीचे के मनुष्य अर्थात् मूर्ख लोग कैसे लघु और क्षुद्र देख पड़ते हैं।

अतः हे ज्ञान के महामहोदधि, तुम्हें नमस्कार है। उस परब्रह्म सहस्र कला के मिलने में परम कारणभूता, तुम्हें प्रणाम है। ब्रह्मा की सृष्टि को भी लजानेवाली भावनाओं की विशाल सृष्टि, तुम्हें धन्यवाद है। मनुष्यों के विचारों को अजर अमर करनेहारी, तुम्हें प्रणाम है। दिग्दिगान्तर कवियों के यश को फैलानेवाली, तुम्हें नमस्कार है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड की कथा कहनेहारी, तुम्हें सहस्रों धन्यवाद है। दुःख रूपी प्रचण्ड वात से उद्विग्न मानस को धैर्य्य देनेवाली, तुम्हें अनेक प्रणाम है।

———

सज्जनताका दण्ड

[श्रीप्रेमचन्द (संवत् १९३७—१९९३ वि०)—मुन्शी धनपतराय उपनाम प्रेमचन्द प्रसिद्ध उपन्यासकार और कहानी-लेखक थे। प्रारम्भमें इन्हें उर्दू और अंगरेजीकी शिक्षा मिली थी। उर्दू में भी इन्होंने अच्छे उपन्यास लिखे हैं। हिन्दी इन्होंने आगे चलकर पढ़ी और उर्दू साहित्यक्षेत्रसे हिन्दीसाहित्यक्षेत्रमें चले आये। सेवासदन, प्रेमाश्रम, रङ्गभूमि, कायाकल्प आदि लिखकर इन्होंने हिन्दीमें युगान्तर उपस्थित कर दिया। इनकी अद्भुत वर्णन-शक्ति इनकी रचनाओंको प्रभावशाली तथा चमत्कारपूर्ण बना देती है। इनकी छोटी छोटी कहानियां विशेष मार्मिक और मनोहर होती हैं। सन् १९३६ ई० के अक्टूबर महीनेमें अचानक इन साहित्य महारथीका स्वर्गवास हो गया जिससे हिन्दी साहित्यको विशेष क्षति पहुंची। औपन्यासिक के रूपमें इनका स्थान अद्वितीय है।]

१

साधारण मनुष्योंकी तरह शाहजहांपुरके डिस्ट्रिक्ट इंजीनियर सरदार शिवसिंहमें भी भलाइयां और बुराइयां दोनों ही वर्तमान थीं। भलाई यह थी कि उनके यहां न्याय और दयामें कोई अन्तर न था। बुराई यह थी कि वे सर्वथा निर्लोभ और निःस्वार्थ थे। भलाईने मातहतोंको निडर और आलसी बना दिया था, बुराईके कारण उस विभागके सभी अधिकारी उनकी जानके दुश्मन बन गये थे।

प्रात:कालका समय था। वे किसी पुलकी निगरानीके लिये तैयार खड़े थे। मगर साईस अभीतक मोठी नींद सो रहा था। रातको उसे अच्छी तरह सहेज दिया गया था कि पौ फटनेके पहले गाड़ी तैयार कर लेना। लेकिन सुबह भी हुई, सूर्य्य भगवानने दर्शन भी दिये, शीतल किरणोंमें गरमी भी आई, पर साईसकी नींद अभीतक नहीं टूटी।

सरदार साहब खड़े खड़े थककर एक कुर्सीपर बैठ गये। साईस तो किसी तरह जागा। परन्तु अर्दलीके चपरासियोंका पता नहीं। जो महाशय डाक लेने गये वे एक ठाकुरद्वारेमें खड़े चरणामृतकी प्रतीक्षा कर रहे थे। जो ठेकेदारको बुलाने गये थे वे बाबा रामदासकी सेवामें बैठ गांजेका दम लगा रहे थे।

धूप तेज होती जाती थी। सरदार साहब झंझला-कर मकानमें चले गये और अपनी पत्नीसे बोले, इतना दिन चढ़ आया अभीतक एक चपरासीका भी पता नहीं। मेरा तो इनके मारे नाकमें दम आ गया।

पत्नीने दीवारकी ओर देखकर दीवारसे कहा, यह सब उन्हें सिर चढ़ानेका फल है।

सरदार साहब चिढ़कर बोले, तो क्या करूं, उन्हें फांसी दे दूं?

२

सरदार साहबके पास मोटरकारका तो कहना ही क्या, कोई फिटिन भी न थी। वे अपने इक्केसे ही प्रसन्न थे, जिसे उनके नौकर-चाकर अपनी भाषामें उड़नखटोला कहते थे। शहरके लोग उसे इतना आदर-सूचक नाम न देकर छकड़ा कहना ही उचित समझते थे। इसी तरह सरदार साहब अन्य व्यवहारोंमें भी बड़े मितव्ययी थे। उनके दो भाई इलाहाबादमें पढ़ते थे। विधवा माता बनारसमें रहती थीं। एक विधवा बहिन भी उन्हींपर अवलम्बित थी। इसके सिवा कई गरीब लड़कोंको वे छात्रवृत्तियां भी देते थे। इन्हीं कारणोंसे वे सदा खाली हाथ रहते थे। यहांतक कि उनके कपड़ोंपर भी इस आर्थिक दशाके चिह्न दिखाई देते थे। लेकिन यह सब कष्ट सहकर भी वे लोभको अपने पास न फटकने देते थे। जिन लोगोंपर उनका स्नेह था वे उनकी सज्जनताको सराहते थे और उन्हें देवता समझते थे। उनकी सज्जनतासे उन्हें कोई हानि न होती थी। लेकिन जिन लोगोंसे उनके व्यावसायिक सम्बन्ध थे वे उनके सद्भावोंके ग्राहक न थे, क्योंकि उन्हें हानि होती थी। यहांतक कि उन्हें अपनी सहधर्मिणीसे भी कभी-कभी अप्रिय बातें सुननी पड़ती थीं!

एक दिन वे दफ़रसे आये तो उनको पत्नीने स्नेहपूर्ण ढंगसे कहा, तुम्हारी यह सज्जनता किस कामको, जब सारा संसार तुम को बुरा कह रहा है ?

सरदार साहबने दृढ़तासे जवाब दिया, संसार जो चाहे कहे। परमात्मा तो देखता है।

रामाने यह जवाब पहले ही सोच लिया था। वह बोली, मैं तुमसे विवाद तो करती नहीं। मगर जरा अपने दिलमें विचार करके देखो कि तुम्हारी इस सचाईका दूसरोंपर क्या असर पड़ता है। तुम तो अच्छा वेतन पाते हो। तुम अगर हाथ न बढ़ाओ तो तुम्हारा निर्वाह हो सकता है। रूखी रोटियां मिल ही जायंगी। मगर ये दस-दस पांच पांच रुपयेके चपरासी, मुहर्रिर, दफ़्री बेचारे कैसे गुजर करें। उनके भी बाल-बच्चे हैं। उनके भी कुटुम्ब-परिवार है। शादी-गमी, तिथि-त्योहार यह सब उनके साथ लगे हुए हैं। भलमनसीका भेस बनाये बिना काम नहीं चलता। बताओ, उनका गुजर कैसे हो ? अभी रामदीन चपरासीको घरवाली आई थी, रोते आंचल भींगता था। लड़की सयानी हो गयी है। अबके उसका ब्याह करना पड़ेगा। ब्राह्मणकी जाति—हजारोंका खर्च। बताओ उसके आंसू किसके सिर पड़ेंगे ?

ये सब बातें सच थीं। इससे सरदार साहबको

इनकार नहीं हो सकता था। उन्होंने स्वयं इस विषयमें बहुत कुछ विचार किया था। यही कारण था कि वह अपने मातहतोंके साथ बड़ी नरमीका व्यवहार करते थे। लेकिन सरलता और शालीनताका आत्मिक गौरव चाहे जो हो, उनका आर्थिक मोल बहुत कम है। वे बोले, तुम्हारी बातें सब यथार्थ हैं। किन्तु मैं विवश हूं। अपने नियमोंको कैसे तोड़ूं? यदि मेरा वश चले तो मैं उन लोगोंका वेतन बढ़ा दूं। लेकिन यह नहीं हो सकता कि मैं खुद लूट मचाऊं और उन्हें लूटने दूं।

रामाने व्यङ्गपूर्ण शब्दोंमें कहा, तो यह हत्या किसपर पड़ेगी?

सरदार साहबने तीखे होकर उत्तर दिया, यह उन लोगोंपर पड़ेगी जो अपनी हैसियत और आमदनीसे अधिक खर्च करना चाहते हैं। अरदली बनकर क्यों वकीलके लड़केसे लड़की व्याहनेकी ठानते हैं। दफ़्तरीको यदि टहलुवेकी जरूरत हो तो यह किसी पाप-कार्यसे कम नहीं। मेरे साईसकी स्त्री अगर चांदीकी सिल गलेमें डालना चाहे तो यह उसकी मूर्खता है। इस झूठी बड़ाईका उत्तरदाता मैं नहीं हो सकता।

२

इञ्जिनियरोंका ठेकेदारोंसे कुछ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा मधुमक्खियोंका फूलोंसे। अगर वे अपने नियत भागसे अधिक पानेकी चेष्टा न करें तो उनसे किसीको शिकायत नहीं हो सकती। यह मधुरस कमीशन कहलाता है। रिश्वत और कमीशनमें बड़ा अन्तर है। रिश्वत लोक और परलोक दोनोंका ही सर्वनाश कर देती है। उसमें भय है, चोरी है, बदनामी है। मगर कमीशन एक मनोहर वाटिका है, जहां न मनुष्यका डर है, न परमात्माका भय, यहांतक कि जहां आत्माकी छिपी हुई चुटकियोंका भी गुजर नहीं है। और कहांतक कहें इसकी ओर बदनामी आंख भी नहीं उठा सकती। यह वह बलिदान है जो हत्या होते हुए भी धर्मका एक अंश है। ऐसी अवस्थामें यदि सरदार शिवसिंह अपने उज्ज्वल चरित्रको इस धब्बेसे साफ रखते थे और उसपर अभिमान करते थे तो वे क्षमाके पात्र थे।

मार्चका महीना बीत रहा था। चीफ इञ्जिनियर साहब जिलेमें मुआयना करने आ रहे थे। मगर अभीतक इमारतोंका काम अपूर्ण था। सड़कें खराब हो रही थीं। ठेकेदारोंने मिट्टी और कंकड़ भी नहीं जमा किये थे।

सरदार साहब रोज ठेकेदारोंको ताकीद करते थे, मगर इसका कुछ फल न होता था।

एक दिन उन्होंने सबको बुलाया। वे कहने लगे, तुम लोग क्या यही चाहते हो कि मैं इस जिलेसे बदनाम होकर जाऊं? मैंने तुम्हारे साथ कोई बुरा सलूक नहीं किया। मैं चाहता तो आपसे काम छीनकर खुद करा लेता। मगर मैंने आपको हानि पहुंचाना उचित न समझा। उसको मुझे यह सजा मिल रही है। खैर!

ठेकेदार लोग यहांसे चले तो बातें होने लगीं। मिस्टर गोपालदास बोले, अब आटे-दालका भाव मालूम हो जायगा।

शहबाज खांने कहा, किसी तरह इसका जनाजा निकले तो यहांसे।

सेठ चुन्नीलालने फरमाया, इञ्जिनियरसे मेरी जान-पहचान है। मैं उनके साथ काम कर चुका हूं। वह इन्हें खूब लथेड़ेगा।

इसपर बूढ़े हरिदासने उपदेश दिया, यारो, स्वार्थकी बात और है। नहीं तो सच यह है कि यह मनुष्य नहीं, देवता है। भला और नहीं तो साल भरमें कमीशनके १० हजार तो होते होंगे। इतने रुपयोंको ठीकरेकी तरह तुच्छ समझना क्या कोई सहज बात

है ? एक हम हैं कि कौड़ियोंके पीछे ईमान बेचते फिरते हैं। जो सज्जन पुरुष हमसे एक पाईका रवादार न हो, सब प्रकारके कष्ट उठाकर भी जिसकी नीयत डांवांडोल न हो उसके साथ ऐसा नीच और कुटिल बर्ताव करना पड़ता है। इसे अपने अभाग्यके सिवा और क्या समझें।

शहबाज खांने फरमाया, हां, इसमें तो कोई शक नहीं कि यह शख्स नेकीका फरिश्ता है।

सेठ चुन्नीलालने गम्भीरतासे कहा, खां साहब ! बात तो यही है, जो तुम कहते हो। लेकिन किया क्या जाय ? नेकनीयतीसे तो काम नहीं चलता। यह दुनिया तो छल-कपटकी है।

मिस्टर गोपालदास बी० ए० पास थे। वे गर्वके साथ बोले, इन्हें जब इस तरह रहना था तो नौकरी करनेकी क्या जरूरत थी ? यह कौन नहीं जानता कि नीयतको साफ रखना अच्छी बात है। मगर यह भी तो देखना चाहिये कि इसका दूसरोंपर क्या असर पड़ता है। हमको तो ऐसा आदमी चाहिये जो खुद खाय और हमें भी खिलावे। खुद हलुआ खाय, हमें रूखी रोटियां ही खिलावे। वह अगर एक रुपया कमीशन लेगा तो उसकी जगह पांचका फायदा करा देगा। इन महाशयके यहां क्या है ? इसलिये आप

जो चाहें कहें, मेरी तो कभी इनसे निभ ही नहीं सकती।

शहबाज़ खां बोले, हां, नेक और पाक साफ रहना जरूर अच्छी चीज है। मगर ऐसी भी क्या नेकी जो दूसरोंका जान ही ले ले।

बूढ़े हरिदासकी बातोंकी जिन लोगोंने पुष्टि की थी वे सब गोपालदासकी हां में हां मिलाने लगे। निर्बल आत्माओंमें सचाईका प्रकाश जुगनूकी चमक है!

४

सरदार साहबके एक पुत्री थी। उसका विवाह मेरठके एक वकीलके लड़केसे ठहरा था। लड़का होनहार था। जाति-कुल ऊंचा था। सरदार साहबने कई महीनेकी दौड़-धूपमें इस विवाहको ते किया था और सब बातें हो चुकी थीं, केवल दहेज का निर्णय न हुआ था। आज वकील साहबका एक पत्र आया। उसने इस बातका भी निश्चय कर दिया, मगर विश्वास, आशा और वचनके बिलकुल प्रतिकूल। पहले वकील साहबने एक जिलेके इञ्जिनियरके साथ किसी प्रकारका ठहराव व्यर्थ समझा। बड़ी सस्ती उदारता प्रकट की। इस लज्जित और घृणित व्यवहारपर खब आंसू बहाये। मगर जब ज्यादा पूछ-ताछ करनेपर सरदार साहबके

धन-वैभवका भेद खुल गया तब दहेजका ठहराना आवश्यक हो गया। सरदार साहबने आशङ्कित हाथोंसे पत्र खोला। पांच हजार रुपयेसे कमपर विवाह नहीं हो सकता। वकील साहब को बहुत खेद और लज्जा थी कि वे इस विषयमें स्पष्ट होनेपर मजबूर किये गये। मगर वे अपने खानदानके कई बूढ़े, खुर्रांट, विचारहीन, स्वार्थान्ध महात्माओंके हाथों बहुत तङ्ग थे। उनका कोई वश न था। इञ्जिनियर साहबने एक लम्बी सांस खींची। सारी आशाएं मिट्टीमें मिल गयीं। क्या सोचते थे, क्या हो गया। विकल होकर कमरेमें टहलने लगे।

उन्होंने जरा देर पीछे पत्रको उठा लिया और अन्दर चले। विचारा था कि यह रामाको पत्र सुनावें मगर फिर ख्याल आया कि यहां सहानुभूतिकी कोई आशा नहीं। क्यों अपनी निर्बलता दिखाऊं? क्यों मूर्ख बनूं? वह विना तानोंके बात न करेगी। यह सोचकर वे आंगनसे लौट गये।

सरदार साहब स्वभावके बड़े दयालु थे। और कोमल हृदय आपत्तियोंमें स्थिर नहीं रह सकता। वे दुःख ग्लानिसे भरे हुए सोच रहे थे कि मैंने ऐसे कौनसे बुरे कर्म किये हैं जिनका मुझे यह फल मिल रहा है। बरसोंकी दौड़-धूपके बाद जो कार्य सिद्ध हुआ था वह

क्षणमात्रमें नष्ट हो गया। अब वह मेरी सामर्थ्यसे बाहर है। मैं उसे नहीं सम्भाल सकता। चारों ओर अंधकार है। कहीं आशाका प्रकाश नहीं। कोई मेरा सहायक नहीं। उनके नेत्र सजल हो गये।

सामने मेजपर ठेकेदारोंके बिल रक्खे हुए थे। वे कई सप्ताहोंसे योंही पड़े थे। सरदार साहबने उन्हें खोलकर भी न देखा था। आज इस आत्मिक ग्लानि और नैराश्यकी अवस्थामें उन्होंने इन बिलोंको सतृष्ण आंखोंसे देखा। जरासे इशारेपर ये सारी कठिनाइयां दूर हो सकती हैं। चपरासी और क्लर्क केवल मेरी सम्मतिके सहारे सब कुछ कर लेंगे। मुझे जबान हिलानेकी भी जरूरत नहीं। न मुझे लज्जित ही होना पड़ेगा। इन विचारोंका इतना प्राबल्य हुआ कि वे वास्तवमें बिलोंको उठाकर गौरसे देखने और हिसाब लगाने लगे कि उनमें कितनी निकासी हो सकती है।

मगर शीघ्र ही आत्माने उन्हें जगा दिया—आह! मैं किस भ्रममें पड़ा हुआ हूं? क्या उस आत्मिक पवित्रताको, जो मेरी जन्म-भरकी कमाई है, केवल थोड़ेसे धनपर अर्पण कर दूं? जो मैं अपने सहकारियोंके सामने गर्वसे सिर उठाये चलता था, जिससे मोटरकार-वाले मेरे भ्रातृगण आंखें नहीं मिला सकते थे, वही मैं आज अपने उस सारे गौरव और मानको—अपनी

सम्पूर्ण आत्मिक सम्पत्तिको—दस-पांच हजार रुपयोंपर त्याग दूं ? ऐसा कदापि नहीं हो सकता।

तब उस कुविचारको परास्त करनेके लिये, जिसने क्षणमात्रके लिये उनपर विजय पा ली थी, वे उस सूनसान कमरेमें जोरसे ठठाकर हंसे। चाहे यह हंसी उन बिलोंने और कमरेको दीवारोंने सुनी हो चाहे न सुनी हो, मगर उनकी आत्माने अवश्य सुनी। उस आत्माको एक कठिन परीक्षासे पार पानेपर परम आनन्द हुआ।

सरदार साहबने उन बिलोंको उठाकर मेजके नीचे डाल दिया। फिर उन्हें पैरोंसे कुचला। तब इस विजयपर मुस्कुराते हुए वे अन्दर गये।

५

बड़े इञ्जिनियर साहब नियत समय पर शाहजहांपुर आये। उनके साथ सरदार साहबका दुर्भाग्य भी आया। ज़िलेके सारे काम अधूरे पड़े हुए थे। उनके खानसामाने कहा, हुज़ूर! काम कैसे पूरा हो ? सरदार साहब ठेकेदारोंको बहुत तङ्ग करते हैं। हेड क्लर्कने दफ्तरके हिसाबको भ्रम और भूलोंसे भरा हुआ पाया। उन्हें सरदार साहबकी तरफसे न कोई दावत दी गई, न कोई भेंट। तो क्या वे सरदार साहबके कोई नातेदार थे जो गलतियां न निकालते ?

ज़िलेके ठेकेदारोंने एक बहुमूल्य डाली सजाई और उसे बड़े इञ्जिनियर साहबकी सेवामें लेकर हाजिर हुए। वे बोले, हुजूर! चाहे गुलामोंको गोली मार दें, मगर सरदार साहबका अन्याय अब नहीं सहा जाता। कहनेको तो कमीशन नहीं लेते, मगर सच पूछिये तो जान ले लेते हैं।

चोफ इञ्जिनियर साहबने मुआइनेकी किताबमें लिखा, सरदार शिवसिंह बहुत ईमानदार आदमी हैं। उनका चरित्र उज्ज्वल है। मगर वे इतने बड़े ज़िलेके कार्य्यका भार नहीं संभाल सकते।

परिणाम यह हुआ कि वे एक छोटे ज़िलेमें भेज दिये गये और उनका दरजा भी घटा दिया गया।

सरदार साहबके मित्रों और स्नेहियोंने बड़े समारोहसे एक जलसा किया। उसमें उनका धर्म्मनिष्ठा और स्वतंत्रताकी प्रशंसा की। सभापतिने सजलनेत्र होकर कम्पित स्वरमें कहा, सरदार साहबके वियोगका दुःख हमारे दिलमें सदा खटकता रहेगा। यह घाव कभी न भरेगा।

मगर "फेयरवेल डिनर"में यह बात सिद्ध हो गई कि स्वादिष्ट पदार्थोंके सामने वियोगका दुःख दुस्सह नहीं होता।

यात्राके सामान तैयार थे। सरदार साहब जलसेसे

आये तो रामाने उन्हें बहुत उदास और मलिनमुख देखा। उसने बार-बार कहा था कि बड़े इञ्जिनियरके खानसामाको इनाम दो, हेड क्लर्ककी दावत करो। मगर सरदार साहबने उसकी बात न मानी थी। इसलिये जब उसने सुना कि उनका दरजा घटा और बदली भी हुई तब उसने बड़ा निर्दयतासे अपने व्यङ्ग-बाण चलाये। मगर इस वक्त उन्हें उदास देखकर उससे न रहा गया। बोली, क्यों इतने उदास हो? सरदार साहबने उत्तर दिया, क्या करूं, हंसू? रामाने गम्भीर स्वरसे कहा, हंसना ही चाहिये। रोये तो वह जिसने कौड़ियोंपर अपनी आत्मा भ्रष्ट की हो —जिसने रुपयोंपर अपना धर्म बेचा हो। यह बुराईका दण्ड नहीं है। यह भलाई और सज्जनताका दण्ड है। इसे सानन्द झेलना चाहिये।

यह कहकर उसने पतिकी ओर देखा तो नेत्रोंमें सच्चा अनुराग भरा हुआ दिखाई दिया। सरदार साहबने भी उसकी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टिसे देखा। उनकी हृदयेश्वरीका मुखारविन्द सच्चे आमोदसे विकसित था। उसे गले लगाकर वे बोले, रामा! मुझे तुम्हारी ही सहानुभूतिकी जरूरत थी, अब मैं इस दण्डको सहर्ष सहूंगा।

———

सर आशुतोष मुखोपाध्याय

[शिवनारायण लाल (सं० १९४४ वि० — वर्त्तमान)—ये कलकत्ता श्रीविशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालयके अध्यापक और कुछ दिनोंतक प्रधानाध्यापक थे। आजकल स्कौटिश चर्च कौलेज, प्रेसिडेन्सी कौलेज और विद्यासागर कौलेजके अध्यापक तथा कलकत्ता विश्वविद्यालयके अध्यापक और परीक्षक हैं। हिन्दी साहित्यके विद्वान् होनेके साथ साथ बङ्गभाषाके भी पण्डित हैं। विद्यासागर कौलेजमें बङ्गभाषाके भी अध्यापक हैं। हिन्दी भाषामें इनका कहांतक प्रवेश है यह इनके सरल हिन्दी-व्याकरणसे ही स्पष्ट विदित हो जाता है। इनकी लेखन-शैली परिपुष्ट और परिमार्जित होनेके साथ साथ सरस, सरल और स्पष्ट है।]

सर्व्वातिरिक्तसारेण सर्व्वतेजोऽभिभाविना।
स्थितः सर्व्वोन्नतेनोर्व्वीं क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना ॥

रघुवंश, सर्ग १, श्लोक १४

कर्म्मकोलाहलमय संसारके भयावह आवर्तमें पड़कर किसी देशके नेतृहीन अधिवासी जब चारों ओर अन्धकार देखते हैं, तभी उनके परिचालकस्वरूप ऐसे किसी लोकोत्तर पुरुषका आविर्भाव हुआ करता है, जो जनसाधारणकी अपेक्षा कहीं उच्च और सारवान् होते हैं। उनके समकालीन सभी व्यक्तियोंकी सामर्थ्य उनके

तेजके आगे चीण हो जाती है। भारी विपत्तियोंकी उपेचा कर वे मेरुकी भांति अचल अटल भावसे स्थिर रहकर अपना कार्य्य सम्पादन करते हुए औरोंके लिये आदर्श छोड़ जाते हैं। संक्षेपमें उन्हें ही युगावतार लोकनायक कह सकते हैं। प्रत्येक युगमें प्रत्येक देशमें ऐसे महापुरुषोंके दर्शन मिलते हैं। विश्वविख्यात सर आशुतोष मुखोपाध्याय इसी प्रकारके एक पुरुष-पुंगव थे।

ऐसे महापुरुषोंकी जीवनीकी आलोचनासे स्पष्ट विदित होता है कि वे देशकालभेदसे भिन्न भिन्न प्रकारके उद्देश्यसाधनके निमित्त ही इस भूलोकको अलङ्कृत करते हैं। सर आशुतोष अपने देशवासियोंको शिचाका भार ग्रहण कर ही इस मर्त्यभूमिपर अवतीर्ण हुए थे। वङ्गदेशके अधिवासियोंकी शिचाको, अधीनताकी जंजीरसे जकड़ी हुई और आत्ममर्य्यादाको भूली हुई जातिको चरित्रकी स्वाधीनताका माहात्म्य सिखानेको, ये स्वर्गसे सनद लेकर आये थे।

सर आशुतोषकी सभी बातें विलक्षण थीं। इनका हृदय, विद्या, बुद्धि, कर्म्मशक्ति, अध्यवसाय और शरीर सभी विराट् थे। इसीसे ये विराट् पुरुष विराट् कलकत्ता विश्वविद्यालयका संघटन करनेमें समर्थ हुए थे। नवगठित विश्वविद्यालयके ये प्राणस्वरूप थे।

इस विश्वविद्यालयकी प्रत्येक विशेषता इनकी अपूर्व्व कर्म्मशक्तिका परिचायक है। इस समय शिक्षाविषयमें बङ्गदेश जो भारतके अन्यान्य प्रदेशोंमें अग्रगण्य हो रहा है, बङ्गदेशका विश्वविद्यालय जो आज केवल भारत क्यों सुदूरवर्त्ती सुसभ्य देशो में भी प्रख्यात हो रहा है, वह सर आशुतोषकी महिमाका ही फल है। बङ्गदेश भारतका मुकुटमणि है और उसी बङ्गदेशके गौरवमणि थे सर आशुतोष।

सर आशुतोषका शुभ जन्म सन् १८६४ ई० में कलकत्ता महानगरीके मलंगा लेनमें हुआ था। आपके पूज्य पिताजीका नाम गङ्गाप्रसाद मुखोपाध्याय था। उन्होंने अपना वासभवन भवानीपुरमें बनवाया था। गङ्गाप्रसाद बाबू प्रसिद्ध चिकित्सक थे। चिकित्सामें उन दिनों उनका जैसा सुनाम था, वदान्यतामें उनकी प्रसिद्धि उससे कम नहीं थी। दीन दरिद्रोंके यहां जाकर वह केवल रोगियोंको बड़े यत्नसे देखते यही नहीं, उनसे दर्शनी भी नहीं लेते, यहां तक कि जाने आनेका खर्च और औषधिका मूल्य भी स्वयं देते। यह उन्हींकी शिक्षाका फल था कि उनके सुपुत्र सर आशुतोष ऐसे योग्य निकले।

बाल्यकालसे ही आशुतोषकी तीक्ष्णबुद्धि और अद्भुत कार्य्यशक्तिका परिचय मिलने लगा था। "होनहार

बिरवानके होत चीकने पात" इनके ये उज्ज्वल दृष्टान्त थे। सन् १८७९ ई० में इन्होंने प्रवेशिका परीक्षा दी थी जिसमें तृतीय स्थान अधिकार किया था, किन्तु गणितमें प्रथम हुए थे।

गणितशास्त्रपर इनका प्रगाढ़ अनुराग था। प्रेसिडेन्सी कौलेजमें एफ० ए० पढ़नेके समय गणितमें इन्होंने एम० ए० परीक्षाकी पुस्तकें समाप्त कर दी थीं। बी० ए० परीक्षामें प्रथम स्थान अधिकार करनेके बाद गणितशास्त्रमें एम० ए० परीक्षा दी, और उसमें भी इन्होंने अपना पूर्व्व यश अक्षुस रखा। सन् १८८५ ई० में इन्होंने प्रेमचन्द रायचन्द वृत्तिके लिये कलकत्ता विश्वविद्यालयकी सर्व्वश्रेष्ठ परीक्षा दी, जिसमें आप ही की वृत्ति मिली। इस अति कठिन परीक्षाके साथ साथ दूसरी बार विज्ञानमें एम० ए० परीक्षा दी और उसमें भी प्रथम स्थान प्राप्त किया। सन् १८८८ ई० में आईन-परीक्षामें उत्तीर्ण हुए और उसके बाद "डाक्टर औफ लौ" की उपाधि लाभ की। इस प्रकार विश्वविद्यालयरूपी आकाशकी मध्याह्नकालके प्रचण्ड मार्त्तण्डकी भांति आलोकित करते हुए आपने छात्रजीवन व्यतीत किया।

अब परीक्षा देना बन्द हुआ सही, किन्तु छात्रजीवन जारी रहा। आप आजीवन विद्याचर्चा कर गये हैं। कर्म्मजीवनका कड़ा दबाव अथवा संसारके नाना प्रकारके

प्रबल झञ्झावात आपकी दुर्दमनीय ज्ञानलिप्सा विन्दुमात्र भी कम नहीं कर सके। आपका अपना एक विशाल पुस्तकागार है। वृद्धावस्थामें भी आप पुस्तकोंके ही बीच मगन रहते थे, जिसके फलस्वरूप ऐसी विद्या या शास्त्र नहीं जो आप नहीं जानते। धर्म्मशास्त्र, विज्ञान, दर्शन, साहित्य, अर्थशास्त्र, इतिहास आदि सभी विषयोंमें आप असाधारण व्युत्पन्न थे। आपकी विद्वत्तासे मुग्ध होकर नवद्वीपकी पण्डितमण्डलीने आपको "सरस्वती" की उपाधि दी थी। यह उपाधि बड़ी ही उपयुक्त थी, क्योंकि आप सरस्वती देवीके पुरुषावतार थे यह कहना अत्युक्ति नहीं है।

जिस प्रकार सूर्य्यका उदय होते ही उसकी किरणें आप ही चारों ओर बिखर जाती हैं, फूल खिलने पर उसकी सुगन्ध स्वयं सर्वत्र फैल जाती है उसी प्रकार विद्याका यश भी सारे संसारमें स्वतः ही फैल जाता है। तरुण आशुतोषकी विद्वत्ता और ज्ञानकी बात किसीसे छिपी नहीं रही। शिक्षा विभागके डिरेक्टर महोदय इनके गुणोंसे परिचित थे। उनकी यह आन्तरिक अभिलाषा थी कि ये शिक्षाविभागमें काम करें, क्योंकि वे जानते थे कि इनके सहयोगसे शिक्षा विभागकी बहुत कुछ उन्नति हो सकती है। इस लिये उन्होंने इन्हें २५०) मासिक वेतनका कार्य्य देना

चाहा। किन्तु इन्हें विलायतसे हो आये हुए लोगोंके समान वेतन नहीं दिया जायगा यह जानकर इन्होंने उस कार्य्यका प्रत्याख्यान किया। विद्या, बुद्धि, ज्ञान किसीमें ये विलायतसे लौटे हुए किसी विद्वान्से कम नहीं थे। जो आत्ममर्य्यादाका गौरव जानता है, जिसके हृदयमें आत्मसम्मानका भाव भरा है, जो अपनी कार्य्य-शक्ति अच्छी तरह समझता है, वह यह कैसे सह सकता है? इनका तेजस्वी हृदय और लोगोंसे कम वेतनमें कार्य्य ग्रहण करने की सम्मति न दे सका। अतएव कार्य्य करना स्वीकार न कर हाईकोर्टमें वकालत करनेका विचार किया और सर रासविहारी घोषके अधीन शिक्षानवीस हुए। कुछ दिनोंमें ही व्यवहारशास्त्रमें इनकी असाधारण दक्षता प्रकट हुई। लोगोंका धारणा है कि सरस्वती और लक्ष्मीका एक साथ समागम नहीं होता, और यही कारण है कि विद्वान् धनवान् नहीं होते, किन्तु सर आशुतोषके विषयमें यह कहा जा सकता है कि इनकी विद्वत्ताके तेजके सामने लक्ष्मी देवीको भी झुकना पड़ा, अर्थात् इन्हें वकालतसे अच्छी आय होने लगी।

किन्तु अर्थोपार्ज्जन ही इनका उद्देश्य नहीं था, नाना विषयोंमें मनोयोग देने लगे और शीघ्र ही वश्वविद्यालयकी सिण्डिकेट सभाके सदस्य नियुक्त हुए।

इनकी असाधारण क्षमताका ही प्रभाव था कि केवल २४ वर्षकी अवस्थामें इन्हें यह सम्मान मिला। सन् १८८८ और १८०१ ई॰में दो बार विश्वविद्यालयकी ओरसे बङ्गीय व्यवस्थापक सभाके सदस्य निर्वाचित हुए। बड़े लाट साहबकी व्यवस्थापक सभाके भी सदस्य हुए। सन् १८०२ ई॰ में भारतवर्षकी शिक्षापद्धतिकी नयी व्यवस्था करनेके लिये लौर्ड कर्जनने जो कमिटी बनायी थी उसके सभ्य मनोनीत हुए, और विश्वविद्यालय सम्बन्धी वर्त्तमान आईन विधिबद्ध करनेमें हाथ बंटाया। सन् १८०४ ई॰ में आप हाईकोर्टके विचारक नियुक्त हुए तथा सुदीर्घ १८ वर्ष असाधारण सूक्ष्मबुद्धि, विशिष्ट व्यवहारज्ञान, विचक्षणता तथा न्यायपरताके साथ उक्त पदको गौरवान्वित किया। इस बीचमें इन्होंने दो बार अस्थायी रूपसे प्रधान विचारपतिका आसन भी अलङ्कृत किया, और इन्हें 'नाइट' की उपाधि मिली।

बङ्गदेशका प्रधान न्यायालय जीविका उपार्जनका कार्यक्षेत्र था सही, पर इनका सर्व्वप्रथम और सर्व्वप्रधान कार्य्यक्षेत्र था कलकत्ता विश्वविद्यालय। शिक्षाविस्तारमें क्या राजा क्या प्रजा सभोंकी उदासीनता देख कर यह अत्यन्त दुःखी हुए थे इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि इन्होंने सर्व्वसाधारणमें व्यापक भावसे शिक्षा प्रचार

करना ही अपने जीवनका प्रधान लक्ष्य माना और स्वयं इस कामको पूरा करनेका बीड़ा उठाया। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये विश्वविद्यालयमें प्रवेश करनेके समयसे जीवनके शेष मुहूर्त्ततक तन-मन-धनसे उसकी सेवा कर गये हैं।

विश्वविद्यालयके संस्कारमें पद-पदपर बाधा मिलने पर भी ये भग्नोत्साह नहीं हुए। अपनी कुशाग्रबुद्धि तथा दूरदर्शिताके प्रभावसे बहुतसे कर्म्मकुशल बुद्धिमानोंको अपनी ओर आकृष्ट करनेमें समर्थ हुए, तथा उनके सहयोगसे स्वयं जो उचित समझा वही किया। अन्तमें जब १८०६ ई० में विश्वविद्यालयके वाईस-चान्सेलर नियुक्त हुए, तब इनके उद्देश्यकी सिद्धिका सुवर्ण-सुयोग संघटित हुआ। सन् १८०६ से १८१४ ई० तक और सन् १८२१ से १८२३ ई० तक वाईस-चान्सेलरके पदपर प्रतिष्ठित रह कर विश्वविद्यालयका आमूल संस्कार कर उसकी जिस नयी मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा की वही इनकी श्रेष्ठ कीर्त्ति है। विश्वविद्यालयके कल्याणके लिये इनका अविश्रान्त अध्यवसाय अतुलनीय था। विचारकार्य्यके कठिन परिश्रमके बाद इन्हें जो कुछ अवसर मिलता वह सब विश्वविद्यालयके कार्य्यमें ही लगाते। सोते जागते और सम्भवतः स्वप्नमें भी ये विश्वविद्यालयकी मङ्गलकामना किया करते थे।

पहले यह विश्वविद्यालय केवल परीक्षालय था, इन्होंने इसे शिक्षालयमें परिणत कर विश्वविद्यालयके नामकी सार्थकता सम्पन्न की। अब यहां प्राच्य और प्रतीच्य साहित्य, विज्ञान, गणित, दर्शन, अर्थशास्त्र आदि नानाविध विषयोंकी उच्च शिक्षा दी जाती है। इनकी चेष्टासे सर तारकनाथ पालित और सर रासविहारी घोषने अपना अतुल ऐश्वर्य्य विश्वविद्यालयके हाथ सौंप दिया, जिससे "विज्ञान-कालेज" स्थापित हुआ जो अपने ढंगका एक ही है।

विश्वविद्यालयकी सर्व्वतोमुखी उन्नति इन्हींकी कीर्त्ति है यह सभी जानते हैं, किन्तु सर्व्वश्रेष्ठ कीर्त्ति है इनकी बङ्गभाषाको और साथ साथ हिन्दी, मैथिली, गुजराती आदि भारतकी अन्यान्य प्रचलित भाषाओंको विश्वविद्यालयमें उच्च स्थान देना। पहले इन दीन भारतवाणियोंको विश्वविद्यालयके आंगनमें बड़े ही सङ्कोचसे प्रवेश करना पड़ता था। ये भाषाएं भी पढ़ने और परीक्षा देनेके उपयुक्त हैं इस ओर किसीका ध्यान ही नहीं था। मातृभाषाका अनादर देख इनका हृदय व्याकुल हो उठा। ये इस बातको हृदयङ्गम कर सके कि मातृभाषाकी चर्चा सम्यग्रूपसे किये विना ज्ञानचर्चामें पूर्णता प्राप्त करना सम्भव नहीं है। अतएव इन्होंने भारतवाणियोंको उच्च आसन दिया और इन भाषाओंमें

एम० ए० परीक्षा होने लगी। ये यदि और कुछ भी न कर सकते तौभी केवल इसीके लिये इनकी कीर्त्ति अक्षुण्ण अजर अमर रहती। यह कहना अनुचित न होगा कि ये इस विश्वविद्यालयको भारतीय विश्वविद्यालयोंमें आदर्श और शीर्षस्थानीय तथा अन्यान्य उन्नत देशोंके प्रथम श्रेणीके विश्वविद्यालयोंके समकक्ष बना गये हैं।

सर आशुतोषके चरित्रका वर्णन करना अगाध समुद्रमें डुबकी लेना है। किस गुणको लें और किसे छोड़ें, समझना कठिन है। इनका चरित्र समझनेकी जितनी चेष्टा की जाय उतना ही हृदय विस्मयसे पूर्ण हो जाता है।

इनके चरित्रमें सबसे बड़ा गुण था अपनी शरणमें आये हुए लोगोंकी रक्षा करना और उनपर सदा कृपा रखना। केवल इस आश्रितवत्सलतासे ही ये जन-साधारणके हृदयको अपनी ओर आकृष्ट कर सकते थे। ऐसा भी समय आ जाता था कि ये उनके दोषगुणोंपर विचार करनेका अवसर तक नहीं पाते। इससे इनकी कभी कभी निन्दा भी हो जाती थी। पर निःस्वार्थ उपकार करनेमें निन्दासे डर किस बातका? चाहे इसे उदारता कहें चाहे दुर्बलता कहें, यह इनमें विशेषता थी कि जो इनकी कृपा भिक्षा चाहता उसका यथाशक्ति उपकार करनेमें ये कभी कुण्ठित नहीं होते। यह इनके

हृदयका माधुर्य्य था। ये न तो कभी किसीको वृथा आशा देते और न भूठी मीठी बातोंसे किसीको कभी भुलावेमें डालते। वास्तवमें विपन्न होकर जो इनकी शरणमें आता उसे आश्रय देनेके लिये इनका हृदय व्यग्र हो उठता। जिनके असीम तेज और वज्रगम्भीर स्वरसे वीरोंका हृदय कांप उठता, जो "बङ्गालके बाघ" के नामसे परिचित थे, उनके हृदयमें ऐसी कोमलता देख कर चकित होना पड़ता है। ऐसे कठिन नीरस आवरणके भीतर ऐसा स्वादिष्ट मधुर जल—कोमलता, दयालुता! इसी पर सच्चे सज्जनके लक्षणमें कहा गया है—"नारिकेल-समाकारा दृश्यन्ते हि सुसज्जनाः।" भवभूतिने भी कहा है कि श्रेष्ठ व्यक्तिका चरित्र वज्रसे भी कठोर और कुसुमसे भी कोमल होता है। उनके अन्तस्तलका पता पाना जनसाधारणके लिये दुष्कर है।

क्या समाजमें, क्या कर्मक्षेत्रमें कहीं भी इन्होंने आत्ममर्य्यादाको कलुषित नहीं होने दिया। इनके ऐसे धर्मभावयुक्त मनुष्य भी विरले ही मिलेंगे। इनकी स्मृतिशक्ति भी असाधारण थी। जिस पुस्तकको यह एकबार पढ़ जाते उसकी बातें इन्हें बरसों याद रहतीं, और इसीसे किस पुस्तकमें क्या है या किसने कब क्या कहा या लिखा है यह जाननेके कारण ये किसीके भुलावेमें नहीं आ सकते थे। इनके गुणोंका स्मरण कर

मन मुग्ध हो जाता है। विश्वविद्यालय क्या, ये एक महासाम्राज्य-संघटनकी शक्ति लेकर आये थे। इनके लिये बङ्गदेश बड़ा ही संकीर्ण क्षेत्र था इसमें सन्देह नहीं।

जोवनके सायाह्नकालमें ये विचारकपदसे अवसर ग्रहण कर पुनः वकालत करने लगे थे। उन दिनों डुमरांव राज्यका जटिल मामला चल रहा था। उस प्रसिद्ध मुकद्दमेमें एक पक्षकी ओरसे वकील नियुक्त होकर ये पटना गये थे। वहीं ये अकस्मात् अस्वस्थ हुए। एक ही दिनमें इनकी अवस्था ऐसी बिगड़ गयी कि किसीको इनके बचनेकी आशा न रही। सन् १९२४ ई० की २५ वीं मई, रविवारको सन्ध्याको ७ बजे केवल दो ही दिन रोगभोगके बाद इन्होंने अमरधामको प्रस्थान किया। इस प्रकार इनकी आधिभौतिक शक्ति सदाके लिये अस्त हो गयी, परन्तु इन विद्यावीरकी पवित्र स्मृति भारतवासियोंके हृदयमें सदा जीवित रहेगी। उसी रातको इनके सुपुत्रोंने इनका शव स्पेशल ट्रेन द्वारा कलकत्ता पहुंचानेका प्रबन्ध किया। मृत्यु-समाचार रातहीको कलकत्ता महानगरीमें दावानलकी तरह फैल चुका था। सभीके हरे भरे हृदय झुलस रहे थे। सोमवारको सबेरा होते ही राजा महाराजा, जज मजिष्ट्रेट, अध्यापक विद्यार्थी प्रभृति असङ्ख्य नरनारी

इनके अन्तिम दर्शनके लिये हवड़ा स्टेशन पहुंचे और वहांसे शवके साथ कालीघाटतक गये, जहां इनकी अन्त्येष्टिक्रिया सम्पन्न हुई। फिर तो नगरभरमें ऐसा शोक छाया मानों कलकत्तावासियोंके किसी अत्यन्त निकट आत्मीयको गङ्गालाभ हुआ हो। समाचार फैलनेके साथ वङ्गदेश तो मुह्यमान हो ही गया, सारा भारतवर्ष भी शोकसे आतुर हो उठा। स्कूल, कौलेज, कचहरी, औफिस सभी जगह और वाईसरायकी कौंसिल से लेकर छोटीसे छोटी समितियों तकमें इनकी स्मृतिमें शोक मनाया गया और हाईकोर्ट, यूनिवर्सिटी, कौलेज, स्कूल, आदि सभी बन्द रहे।

यह पहले ही कहा गया है कि सर आशुतोष विश्वविद्यालयके प्राणस्वरूप थे। इनकी मृत्युसे विश्वविद्यालय प्राणहीन शरीर—पक्षिहीन पिञ्जर हो रहा था। इस विशाल विश्वविद्यालयका ऐसा कर्णधार कौन होगा जो इनका स्थान पूर्ण कर सके, यह चिन्ता बहुतोंको व्यग्र कर रही थी। यों तो विश्वविद्यालयके सभी कार्य्य हो ही रहे थे, पर वह उत्साह, वह जागृति, वह निर्भीकता कहां? ईश्वरकी लीला अपरम्पार है। इस विशाल कायामें फिरसे प्राण लानेके लिये स्वर्गमें भी आशुतोषकी आत्मा विचलित हुई और अपना एक अंश अपने स्थानपर बिना बैठाये न रह सकी। "आत्मा वै जायते पुत्रः"—

पुत्र अपनी ही आत्मा है। इनके सुपुत्र श्रीयुक्त श्यामाप्रसाद मुखोपाध्याय, एम० ए०, बी० एल, बार-ऐट-लौ, एम० एल० ए०, महोदय आजकल वाईस-चान्सेलरके प्रतिष्ठित पदपर प्रतिष्ठित हैं। ये भी अपने पिताकी भांति बड़ी योग्यता, निपुणता तथा निर्भीकताके साथ विश्वविद्यालयके कार्य्योंका सुचारुरूप से सम्पादन कर रहे हैं। प्रत्येक विभागका निरीक्षण स्वयं इस प्रकार कर रहे हैं कि इनके पूज्य पिताजी जितने कार्य्य अधूरे छोड़ गये हैं उनके पूरे होनेमें अब सन्देह नहीं रहा, और जो जो उनकी आन्तरिक अभिलाषाएं थीं उनके भी कार्य्यमें परिणत होनेके लक्षण दिखाई दे रहे हैं।

इस असार संसारसागरसे पार उतरनेकी जो अभय तरणी हैं तथा कर्म्मयोगियोंके लिये जो एकमात्र अवलम्ब हैं, उन नवदूर्वादलश्यामकान्ति, पीतवसन, पद्मपलासलोचन, आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रसे प्रार्थना है कि वे श्यामाप्रसादजीको नीरोग और चिरायु रखें एवं विश्वविद्यालयका गुरुभार वहन करनेकी शक्ति दें।

सीज़न डल है

[रामनरेश त्रिपाठी (सं० १९४६ वि० — वर्तमान)—ये गद्य और पद्य दोनोंके अच्छे लेखक हैं। हिन्दीकी उन्नति करनेमें इनका उद्यम और उत्साह सराहनीय है। इनकी रचना-शैली भी उत्तम है। इनकी लिखी "कविता-कौमुदी" जो कई भागोंमें समाप्त हुई है और जिसमें बहुमूल्य मणियोंकी लड़ियां हैं, हिन्दी भण्डारका एक अमूल्य रत्न है।]

[१]

स्थान—डाक्टर का शयनागार

समय—प्रातःकाल ८ बजे

(डाक्टर शौच आदि से निवृत्त होकर एक टूटी हुई आरामकुर्सी पर लेटा हुआ, आंखें मूंदकर, हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रहा है।)

डाक्टर—हाय मेरा ड्राइंगरूम बिल्कुल उजड़ा हुआ है। एक भी फर्नीचर नहीं है। हे ज्वर! तुम कहां हो? मेरी स्त्री के शरीर पर एक भी कीमती गहना नहीं है। हे इन्फ्लुएञ्जा! तुम किस देश में रम रहे हो? मेरे बच्चे पैसे की कमी से न थियेटर

देखने जाते हैं, न सिनेमा। हे प्लेग! इस नगर में तुम्हारा शुभागमन कब होगा? मेरे पास मोटर नहीं है। मैं मरीज़ों को देखने तांगे पर जाता हूं। हैज़ा! मैं तुम्हारी राह देख रहा हूं। मुझे चौबीस घण्टों में चार-पांच बार बदलने के लिए कई सूट चाहिएं; छः-सात जोड़े बूट चाहिएं; चश्मा, छड़ी, घड़ी, फाउण्टेन पेन चाहिए। हे मलेरिया! तुम्हारे हृदय में मेरे लिए दया कब उत्पन्न होगी?

(स्त्री का प्रवेश)

स्त्री—प्रियतम! चा तैयार है। आजकल आप चिंतित से क्यों रहते हैं?

डाक्टर—सीजन डल है।

[२]

स्थान—मकान का बरामदा

समय—संध्या

(उपस्थिति—डाक्टर और उसके जन-परिजन)

डाक्टर—(दोनों हाथ मुंह पर फेरकर) ईश्वर दीनबन्धु है। वह सब की ख़बर लेता रहता है।

कन्या—पिताजी! मुझे एक रेशमी साड़ी ख़रीद दो।

डाक्टर—अच्छा बेटो! मलेरिया आ गया है।

स्त्री—मेरे लिए कुछ सोने के गहने बनवा दीजिए। मुझे भतीजी के व्याह में न्योते जाना है।

डाक्टर—अच्छा, मेरी रानी! इन्फ्लुएञ्जा के केस बढ़ रहे हैं।

साईस—हुजूर! घोड़े को दाना कम मिलता है, इससे वह दुबला और कमजोर पड़ता जा रहा है।

डाक्टर—दाना बढ़ा दो। हैज़ा फैल चुका है।

पुत्र—पिताजी! मोटर ले लो।

डाक्टर—बेटा! यदि ईश्वर की कृपा हुई और इस शहर में प्लेग आ गया तो इस साल जरूर मोटर ख़रीद दूंगा।

मक्खनवाला—डाक्टर साहब! मक्खन?

डाक्टर—हां, रोज़ दे जाया करो। शहर में बीमारी फैल चुकी है। दिन भर दौड़ना पड़ता है। मक्खन न खाने से शरीर निर्बल पड़ जायगा।

[२]

स्थान—दवाखाना

समय—प्रातःकाल १० बजे

एक ग़रीब—हुजूर! आज पंद्रह दिन दवा पीते हो गये, मेरे लड़के का ज्वर नहीं गया।

डाक्टर—तुम्हारे लड़के की बीमारी बड़ी कड़ी है। उसका फिफड़ा सड़ा जा रहा है। कुछ दिन लगकर दवा करो, नहीं तो पछताओगे।

ग़रीब—हुजूर! दवा का दाम कहां से लाऊं? किसी तरह औरत के गहने और घर के बरतन बेचकर बीस-पचीस रुपये किये थे, सब दवा के दाम में लग गये।

डाक्टर—भाई! दवा के दाम तो देने ही पड़ेंगे।

ग़रीब—हुजूर! ग़रीब आदमी हूं। जल्दी आराम कर दीजिए।

डाक्टर—कम्पाउण्डर।

कम्पाउण्डर—जी, हां।

डाक्टर—(अलग ले जाकर) इसके लड़के को अबतक क्या दवा देते रहे हो?

कम्पाउण्डर—अबतक तो खाली पानी और कभी-कभी उसमें सौंफ के अर्क की दो एक बूंदें डालकर दिया करता था।

डाक्टर—वह कहता है कि मेरे पास अब पैसा नहीं है। उसके लड़के को मामूली मलेरिया ज्वर है। दो-तीन खुराक कुनाइन मिक्श्चर दे दो, अच्छा हो जायगा। (ग़रीब से) दवा बदल दी है। अब दो ही तीन खुराक में तुम्हारे लड़के का ज्वर उतर जायगा।

ग़रीब—भगवान आपका भला करें। आप जु-जुग जियं।

(एक रईस का प्रवेश)

रईस—डाक्टर साहब! मेरे लड़के की तन्दुरुस्ती दिन पर दिन बिगड़ती जा रही है। कोई दवा कार नहीं कर रही है।

डाक्टर—आपके लड़के को क्षय रोग प्रारम्भ हो चुका है। मैंने उस दिन खून की परीक्षा करके देखा था। खून में क्षय के कीटाणु पैदा हो चुके हैं।

रईस—(चिन्ताकुल होकर) तब ?

डाक्टर—तब क्या ? क्षय रोग बहुत भयानक रोग है। आराम होने में कुछ समय लगेगा।

रईस—एक वर्ष तो आपकी दवा लेते हो गया, अब और कितना समय लगेगा ?

डाक्टर—जब तक आराम न हो, तब तक तो दवा करनी ही पड़ेगी। (मन में) मैं न रोगी को मरने देता हूं, न रोग को। मैं दोनों की रक्षा करता हूं। जो किसी के लिये रोग है, वह मेरे लिए कल्पवृक्ष है, कामधेनु है। (मन में कुछ उत्साहित होकर) हे रोगी! तुम फूलो, फलो, चिरंजीवी हो। घर-घर में तुम्हारा निवास हो। शरीर-शरीर में तुम्हारा अटल राज्य हो।

रईस—डाक्टर साहब! फिर क्या कहते हैं ?

डाक्टर— आप आज्ञा दें तो कलकत्ते, बम्बई से दो-तीन बड़े डाक्टरों को बुलाकर कन्सल्ट (सलाह) करूं ?

रईस—क्या ख़र्च लगेगा ?

डाक्टर—विशेष नहीं, आठ-दस हज़ार के लगभग लगेंगे।

रईस—बहुत है।

डाक्टर—आप के लिए कुछ भी नहीं है। एक ही लड़का है। धन-दौलत कोई साथ ले जायगा ?

रईस—अच्छा, सात-आठ तक में काम हो जाय तो दो-तीन डाक्टरों को बाहर से बुलाकर दिखला लीजिए।

डाक्टर—देखिए, कोशिश तो मैं करूंगा कि इतने में काम हो जाय। पर साहब! आप का इतना बड़ा नाम सुनकर बाहर के डाक्टर लोग मुंह बहुत फैलायेंगे। (मन में) हे भगवान्! रोग और रोगी दोनों ही दीर्घायु हों।

[४]

स्थान—कौंसिल

स्वराजिष्ट मेम्बर—डाक्टरों की संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती जाती है; साथ ही मलेरिया, इन्फ्लुएञ्जा,

हैज़ा, प्लेग, चेचक, क्षय, आदि भी। डाक्टरों की वृद्धि के साथ रोगों की वृद्धि का कोई सम्बन्ध है? डाक्टरों का स्वार्थ रोग बढ़ने में है, घटने में नहीं। इससे डाक्टर की नीयत रोग घटाने की हो नहीं सकती। सरकार को चाहिए कि रोगों को कम करने के लिए डाक्टर की नीयत पर कब्ज़ा करे। नीयत बदले बिना रोग घट नहीं सकते। अतएव मेरा प्रस्ताव है कि—

१—डाक्टर मात्र जनता के स्वास्थ्य के ज़िम्मेदार समझे जायं।

२—शहरों के महल्ले डाक्टरों में बांट दिए जायं। प्रत्येक व्यक्ति से उसकी हैसियत के अनुसार डाक्टर को प्रतिमास एक निश्चित रकम दिलाई जाय। जब कोई व्यक्ति बीमार हो, तब उससे डाक्टर को प्रतिमास जितना मिलता हो उसकी दो गुनी रकम प्रतिदिन डाक्टर उस मरीज़ को तब तक दिया करे जब तक वह नीरोग न हो जाय। जैसे एक व्यक्ति डाक्टर को प्रतिमास दो रुपये दिया करता है। यदि वह बीमार हो तो डाक्टर उसको प्रतिदिन ४) दिया करे। ऐसा नियम बन जाने से डाक्टरों की नीयत बदल जायगी और कोई डाक्टर यह न चाहेगा कि रोग बढ़े। बल्कि सब इस प्रयत्न में रहेंगे कि उनके महल्ले का कोई व्यक्ति बीमार न होने पावे।

इण्डिपेण्डेण्ट मेम्बर—मैं हृदय से इस प्रस्ताव का समर्थन करता हूं।

नेशनलिस्ट—यह प्रस्ताव जनता के कल्याण के लिए बहुत आवश्यक है। मैं ज़ोरों से इसका अनुमोदन करता हूं।

लिबरल—इससे अच्छा प्रस्ताव कौंसिल में कभी आया हो नहीं। मैं तहेदिल से इसको ताईद करता हूं।

हिन्दू-सभावादी—यह प्रस्ताव सर्व-सम्मति से पास होना चाहिए।

मुस्लिम लोगवादी—बढ़ती हुई बीमारी का यही सबसे अच्छा इलाज है। यह रिज़ोल्यूशन ज़रूर पास होना चाहिए।

सभापति—इस प्रस्ताव के विरुद्ध कोई कुछ कहना चाहता है?

आवाज़—कोई नहीं।

एक सदस्य—मैं इसमें इतना और बढ़ा देना चाहता हूं कि—

यदि कोई रोगी अधिक दिन बीमार रहकर मर जाय और बीमारी के दिनों की रक़म वह डाक्टर से न पा चुका हो तो उसके वारिस को अधिकार है कि वह डाक्टर से वसूल करे। यदि उसका कोई वारिस न हो तो सरकार वसूल कर सकती है।

सभापति—इसके पक्ष में जो हों, कृपया हाथ उठावें।

सब—(एक स्वर से) आल, आल।

सभापति—यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हुआ।

[५]

स्थान—डाक्टर का घर

समय—सवेरे १० बजे। प्रस्ताव क़ानून बन चुका है।
(डाक्टर साहब भोजन कर रहे हैं।)

नौकर—डाक्टर साहब! ठाकुर साहब का नौकर आया है कि उनको आज सवेरे से खांसी आ रही है।

डाक्टर—(हड़बड़ाकर, हाथ में उठाया हुआ ग्रास थाली में फेंककर) जल्दी मोटर लाओ। ड्राइवर को बोलो, हरवक़्त मोटर दरवाज़े पर तैयार रहे।

स्त्री—भला, खाना तो खाते जाइए।

डाक्टर—ठाकुर साहब से मुझे ५) महीना मिलता है। शाम तक खांसी न अच्छी हुई तो मुझ पर १०) रोज़ की चपत पड़ जायगी। पिछले महीने दो हज़ार रुपये मुझे अपने पास से रोगियों को देने पड़े हैं।

स्त्री—हे भगवान्! इस मोहल्ले में किसी को खांसी न आवे।

डाक्टर—खांसी ही क्या? सैकड़ों रोग हैं।

(डाक्टर साहब मोटर पर बैठ रहे हैं)

(एक ग़रीब चमार आता है)

चमार—हुज़ूर! मेरे लड़के के सिर में दर्द है।

डाक्टर—मैं ठाकुर साहब को देखकर अभी आता हूं। घबराओ नहीं, सिरदर्द तो मैं चुटकियों में अच्छा कर दूंगा।

(पूर्व-परिचित रईस आते हैं)

रईस—डाक्टर साहब! मेरे लड़के के लिए कोई नया नुस्ख़ा?

डाक्टर—कोई नुस्ख़ा नहीं। आपके लड़के को क्षय रोग नहीं है। मैंने कल उसे समझा दिया है। क्षय और मधुमेह (डायबिटीज) आदि रोगों में बारह आना तो शक रहता है। मैंने कल उसका शक रफ़ा कर दिया है। अब वह अच्छा हो जायगा।

रईस—(खुश होकर) आपका मैं बहुत एहसानमंद हूं।

डाक्टर—(मन में) कानून का एहसान मानिए।

[६]

स्थान—डाक्टर का शयनागार

समय—रात्रि के भोजनोपरान्त।

डाक्टर—हे भगवान्! आपको अनन्त धन्यवाद है।

आज मेरे महल्ले में कोई बीमार नहीं हुआ। हे परमात्मा! मनुष्य-समाज से तुम रोगों को हटा लो।

स्त्री—आजकल आप दिनभर घर से बाहर रहते हैं। खानेपीने को भी फ़िक्र आपने छोड़ दी।

डाक्टर—आजकल दिनभर रोगों से लड़ता रहता हूं। मैं चाहता हूं कि एक भी रोग कहीं रह न जाय। एक घण्टा सवेरे एक घण्टा शाम को मैं महल्ले के लोगों को जमा करके नीरोग रहने के उपाय बताया करता हूं। लोगों के घरों में जा-जाकर मैं उनकी गंदगी हटवाया करता हूं। कोई रोग शुरू होते ही अच्छे से अच्छा इलाज करके मैं उसे निर्मूल कर देता हूं।

पुत्र—पिताजी! अब आप विलायत से दवाइयों का पार्सल नहीं मंगाते। उसमें बड़ी सुन्दर-सुन्दर शीशियां और छोटे-छोटे बक्स आया करते थे।

डाक्टर—नये क़ानून के मुताबिक़ अब सब दवाइयों के दाम मुझे अपने पास से देने पड़ते हैं। अतएव जहां तक संभव होता है, मैं देशी दवाइयां ही काम में लाता हूं। ये सस्ती भी होती हैं और ताज़ी होने के कारण इनका असर भी जल्दी होता है।

कन्या—पिताजी! अब तो प्लेग, हैज़ा, इन्फ्लुएञ्जा, मलेरिया, खांसी आदि के केस बहुत कम होते हैं। वे रोग कहां चले गये?

डाक्टर—ईश्वर करे ये रोग हमारे महल्ले में कभी न आयें। ये जहन्नुम में जायं। बेटी। अब ये आयेंगे तो हम भूखों मरने लगेंगे। (गहरी सांस खींचकर) हे भगवान्! मनुष्यमात्र को नीरोग करो।

सर्वे सुखिन: सन्तु सर्वे सन्तु निरामया:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दु:खभाग्भवेत्॥

घोड़े की जीवनी

[पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' (जन्म संवत् १९५८ वि०)—ये कवि, कहानी-लेखक और उपन्यासकार हैं। इनकी कहानियां सुन्दर होती हैं। इनकी भाषा-शैली और रचना-क्रममें विशेषता है जो इनकी अपनी कही जा सकती है।]

"तुम मनुष्य हो? मनुष्योंका दावा है कि सारी आदमीयत उन्हींकी सम्पत्ति है। प्रेम, दया, करुणा, भावुकता जितने कोमल भाव हैं, सबके स्वामी वे ही हैं। पर, बताओ तो, तुमने कभी हमारे दुखोंकी ओर भी देखा है? कभी यह सोचनेका कष्ट भी उठाया है कि हम अभागी पशुओं पर तुम्हारी कृपासे

क्या बीतती है? हम तुम्हारी गुलामी कर, तुम्हारे इशारों पर नाच कर, तुम्हारे लिये खून पसीना कर— पुरस्कारमें क्या पाते हैं?"

"सुना है, तुम स्वभावतः दास्य-विरोधी और स्वाधीनताके समर्थक हो। पर, सच बताना, तुमने कभी हमारी गुलामीका, परवशताका, विवशताका और दास्यजन्य कष्टोंका ध्यान किया है? भयङ्कर ग्रीष्ममें, जब कि तुम खसकी टट्टियोंमें, बिजलीके पंखोंकी सहायता पानेपर भी, "हाय! हाय!!" करते रहते हो, तुम्हारे गुलाम, अभागे घोड़े प्रचण्ड-मार्तण्ड की अग्नि-किरणों से युद्ध करते रहते हैं। प्रलयङ्कर-पावसमें, जब कि तुम बारहदरियों में बैठकर वर्षाकी बहार देखते हो, अधिक-से-अधिक सुख पानेकी चेष्टा करते हो तब, तुम्हारे हाथों बिके घोड़े, पसीनेसे सराबोर हो [कर, नत-मस्तक, कम्पित कलेवर, एक सड़कसे दूसरी और तीसरीसे चौथी गलीका कीचड़ छानते हैं! सच बताना! उस समयकी हमारी पराधीनता तुम्हारे हृदयपर कुछ चोट पहुंचाती है? तुम्हारी मनुष्यता उसे देखकर कांपती है? तुम्हारी दया उमड़ती है? करुणा फूटती है? मैं समझता हूं, नहीं। तुम पत्थर हो, निर्दय हो, स्वार्थी जन्तु हो, राक्षस हो! तुम अपनेको मनुष्य कहकर देवी मानवताका अपमान न किया करो।"

२

"गोरखपुर जिलेके एक देहाती वैद्यकी सेवामें मेरी माताके, सुखके, पांच वर्ष बीते थे। तुम्हारे (मनुष्योंके) सुखसे हमारा सुख कहीं छोटा होता है। तुम्हारा सुख संसारको लूटकर भी सुखी नहीं होता! पर, हमारा छोटा सुख भरपेट भोजन, वह भी कोरा चना, घास और थोड़ा कम परिश्रम पर ही 'बस' हो जाता है। मेरी मां को उक्त वैद्यराजके यहां यही सुख था। वैद्यजीने मांको गुलामोंकी हाटसे बीस रुपयेमें खरीदा था। बीस रुपयोंमें ही अश्व-जगतका एक जीव सदाके लिये गुलामीकी जंजीरमें बांध दिया गया!!"

"वैद्यजी अपनी गुलाम घोड़ी (मेरी मां) को सालमें कम-से-कम दो महीने मंगनीमें दिया करते थे। शेषमें, एक गांवसे दूसरे गांव जानेके समय, मां की पीठपर कुम्भकर्णकी तरह स्थूल और लम्बोदर की तरह तोंदवाले वैद्यराज आसीन होते। मां का साधारण कद और साधारण ही शरीर था। वैद्यजीका बोझ—जो तीन मनसे किसी भी हालतमें कम नहीं था—मांके लिये आवश्यकतासे अधिक था। उनके उछल कर चढ़ बैठते ही बेचारी मां धनुष की तरह झुक जाती थी और लम्बी सांस लेने लगती थी। फिर भी, सुखमें पड़ी हुई

कांटेदार लगाम और वैद्यजीके हाथमें सुशोभित विकट दण्डके भयसे गऊकी तरह सरल-प्रकृति हो कर मांको निश्चित स्थान तक जाना पड़ता था। मांने एक दिन प्यारसे मेरा सिर सूंघते-सूंघते जब यह कहा कि—"बेटा, तू मुझ गुलामकी गाढ़ी कमाई है। तेरे जन्मसे पन्द्रह दिन पूर्वतक वैद्यराज मुझे सवारीमें लेते थे और मेरे गर्भधारण कष्टको चरम सीमापर पहुंचाते थे।"—तब मारे ग्लानिके मेरी आंखोंसे आंसू निकल आये, मारे क्रोधके मेरे कान खड़े हो गये!! मैंने हिनहिना कर कहा—"आने दो दुष्टको। मारे लत्तियोंके......।" मुझे रोकते हुए मांने समझाया—"तू गुलाम है। गुलाम क्रोध नहीं कर सकते। चापलूसी और नतमस्तक हो कर स्वामीकी आज्ञा का पालन ही उनका परम कर्तव्य है!" मांने और भी कहा—"फिर भी, हमें बड़ा सुख है। देहातमें रहने के कारण और वैद्यराजकी दासी होनेके कारण, भर पेट हरी-हरी घास तो मिल जाती है। सेर आधसेर चने तो मिल जाते हैं। ईश्वरकी कृपा है कि, हम किसी बनारसी एक्केवानके हाथमें नहीं पड़े। नहीं तो, यमराज भूल जाते। नरक तुच्छ जान पड़ता। हमें यहां बड़ा सुख है। ईश्वरसे प्रार्थना कर कि, इसी ड्योढ़ी पर हमारे दास्यमय जीवनका अन्त हो।"

मांकी बात सुनकर मैंने एक लम्बी सांस ली। गुलाम अपनी विवशता पर इससे अधिक कर ही क्या सकता है!"

२

"पापी मनुष्य! तेरी स्वार्थ-प्रियताका स्पष्ट चित्र हम मूक पशु ही, अपना हृदय चीर कर, दिखला सकते हैं। तोतेको बधिकों द्वारा बन्दी बनाकर, लोहेके पिंजड़ेमें डालकर, उनकी मीठी आवाजके लिये, तू ही तो उन्हें ज़हरकी तरह 'मिरचे' खिलाता है। गऊ जब अपने प्यारे बछड़ेको अपना स्तन-पान कराना चाहती है तब तू ही उस गो-शावककी अंशपर हाथ साफ़ करता है। फिर, उस बछड़ेकी तूही तो उसकी मांसे बिलग करता है। फिर, बूढ़ी हो जाने पर—कहते हुए पशुताका भी ज़बान लड़खड़ाती है—उस बेचारी गऊको तूही तो चार पैसोंके लिये, हाथको मैलके लिये, कसाइयोंके हाथ बेच देता है। तेरे डण्डे खाकर, अपना रक्त सुखा कर, जो बैल तेरी खेतिहरी करता है उसे तूही तो, वृद्ध होने पर, मार-मार कर, राक्षसोंके हाथ, राक्षसोंका पेट भरनेके लिये, बेच देता है। धिक्कार भी तेरे नामसे घृणा करता है!!"

"मेरी मांकी उमर ढलते देख, स्वार्थी वैद्यने उसे बेच देनेका निश्चय किया। मेरी मांको और मुझे भी

वैद्यके उक्त निश्चयका कुछ भी पता न था। वह तो, जब एक दिन घोड़ोंका व्यापारी हमें वैद्यराजके थानसे खोलकर ले चला तब मालूम हुआ। वैद्यजी ने हम दोनोंको बेच कर अपने पुराने बीस रुपये लौटा लिये। उनकी समझसे हमारी पांच वर्षोंकी सेवा उन्हें मुफ़्तमें ही मिली।"

"इधर व्यापारीके साथ एक दुर्बल और बूढ़ा घोड़ा और था। उसने जब देखा कि व्यापारी हमें भी ख़रीद रहा है तब हिनहिना कर अपनी भाषामें कहा—'तुम्हारे भाग्य फूट गये। यह राक्षस, जो तुम्हें ख़रीद कर ले जाना चाहता है, घोड़ोंका व्यापारी है। तुम अपना थान न छोड़ो!' उस घोड़े की बात सुनकर मां रोने लगी। उसने व्यापारीको देखकर उछलना कूदना और पैर फटकारना भी आरम्भ किया। पर, सब व्यर्थ! स्वयं वैद्यराजने, मोटे डण्डेकी सहायतासे, प्रहार-पुरस्कार देकर, हमें अपने थान परसे हटा दिया। हम लोग रेलके डब्बोंमें भरकर 'हरिहरक्षेत्र' के मेलेमें लाये गये!"

"तुमने केवल इतिहासोंमें, या 'अलिफ़लैला' में पढ़ा होगा कि, किसी समय एक देशके लोग दूसरे देशके लोगोंको गुलाम बनाकर, कुछ रुपयों पर बाज़ारमें बेचते थे। पर, हमने उस क्रय-विक्रयका क्रूर नाटक स्वयं देखा है। उस दुःखका अनुभव प्राप्त किया है।

पर हां, उसमें मनुष्य मनुष्यके प्रति नहीं, अपने बराबरी वालोंसे नहीं; पर, अपनेसे कहीं दुर्बल, असभ्य, मूक पशुओं पर अत्याचार करते थे (अभी करते ही हैं!)। उस गुलाम-बाज़ारमें कई हज़ार गुलाम घोड़े पंक्तियोंमें खड़े थे। प्रायः सबको अगाड़ी-पिछाड़ी कसी थी। बहुतोंके मुखपर 'तोबड़े' भी बंधे थे। मैं भी अपनी माके साथ एक स्थान पर बंधा था। हम दोनों अपने-अपने भविष्यत्‌की सुन्दरताके लिये भगवानसे प्रार्थना कर रहे थे और कर रहे थे यह कामना कि हम दोनों एक ही आदमीके हाथ बिकें। पर, कर्त्ताकी कुछ और ही इच्छा थी। मेरा ग्राहक—नहीं नहीं—मेरे प्राणों का ग्राहक आ पहुंचा। उसका भयङ्कर चेहरा कह रहा था कि वह कोई एक्केवान है। उसने पहले मुझे दूरसे देखा, फिर निकट आकर मेरे पांवकी ओर दृष्टि की। इससे उसका यह जाननेका अभिप्राय था कि मैं 'दोखी' तो नहीं हूं। मनुष्योंकी ज़बर्दस्ती तो देखो, ब्रह्माके दोषको हमारा दोष समझते हैं। तीन ही पैर लाल क्यों हुए? दोषी है। पूंछ छोटी क्यों हुई? गर्दन ऊंची क्यों नहीं है? दोषी है। वाह री मनुष्य जाति!"

"ख़ैर, मुझमें, मेरे अभाग्यसे, वैसा कोई दोष नहीं था। अतः एक्केवानने व्यापारीसे पूछा—"

"कितने दिनोंका बच्चा है जो ?"

"अरे भाई ! इसे बच्चा क्यों कहते हो ? यह तो साढ़े पांच वर्षका पट्ठा है। खरीदते ही सवारी देने लगेगा।"

"मुझे सवारी तो करना नहीं है। एक्केमें निकालना है। ख़ैर इसकी चाल तो दिखाओ।"

"व्यापारीने मुझे मेरी माताके पार्श्वसे हटाया। आह ! मैं क्या जानता था कि, यही हटना हमेशाके लिये हटना होगा। पर, मेरी अभागिनी मां समझ गयी। वह हिनहिनाकर रोने और पगहा तुड़ाने लगी। पर व्यापारीके क्रूर प्रहारके सम्मुख उसकी एक भी न चली। व्यापारीने कुछ दूरतक मेरी पीठ पर बैठकर मुझे दौड़ाया। कुछ दूर एक्केवानने भी दौड़ाया। तीस रुपयोंमें सौदा पट गया। वह एक्केवान रुपये देकर मुझे ले चला ! हाय, उसी वक्त तो वह ज़ोरसे चिल्लायी थी !! मेरी मांने कहा—

"चलो बेटा ! हायरी गुलामी, गोया जानवरों को हृदय होता ही नहीं। बेटा ! एक बार मेरे पास आओ।"

"मैं मांकी ओर बढ़ा, पर, रोक लिया गया। एक्केवानने मेरी पीठपर एक डण्डा जमाकर दूसरा ही रास्ता देखनेको कहा। उधर मेरी मां व्यग्र होकर

उछल रही थी! प्राण छोड़कर हिनहिना रही थी। जब उसने देखा कि एक्केवान ज़बरदस्ती मुझे मार की सहायतासे, घसीटे लिये जा रहा है तब वह सहन न कर सकी। बन्धन तोड़ाकर मेरे पास आयी और लगी प्रेमसे मेरा शिर सूंघने!!"

"उस ओर बाज़ारमें हल्ला मच गया। 'जानवर भागा! घोड़ी भागी!! पकड़ो! रोको!! दस-पांच आदमी डण्डे लेकर मांके पीछे पड़ गये। अभागिनीने मुझे आंख भर देखा भी नहीं, जी भर प्यार भी न कर सकी और लगी डण्डे खाने! निर्दय स्वार्थ!—पापी मनुष्य!—दुःखद दास्य!"

४

"मैं दुःख ही का ग्रास बननेके लिये पृथ्वीपर आय था। तभी तो वह एक्केवान बनारसी निकला! वह काशीके भदैनी महाल का एक अत्यन्त ग़रीब, अत्यन्त मूर्ख और अत्यन्त क्रूर मनुष्य है। उसके परिवारमें एक छोटा भाई, तीन बच्चे, स्त्री और उसकी बूढ़ी मां हैं। उन सबका पेट भरनेवाला वही है। उसमें अभिमानिनी मनुष्यजातिके और भी अनेक गुण हैं। वह पक्का जुआड़ी, एक नम्बरका लम्पट और एक ही नशेबाज़ है। एक तो ग़रीब, दूसरे कुटुम्बी, तीसरे फ़िज़ूलख़र्च। ऐसा ही स्वामी मेरी क़िस्मतमें लिखा था!"

"तुम (मनुष्य) भर पेट खा लेते हो, नींदभर सो लेते हो, हंसते हो, पर भाई (चाहे तुम हमें भाई न समझो पर ईश्वरके यहांसे तो हम सब 'भाई' का सम्बन्ध जोड़कर ही आये हैं !) गुलामी क्या है, इसे तुम क्या जानो। उसके ज्ञाता हमीं हैं और उस ज्ञानकी प्राप्ति तुम्हारी मूर्खताकी कृपासे होती है।"

"डण्डोंकी सहायतासे पन्द्रह दिनोंमें ही एक्केकी चालका ज्ञाता बना कर जिस एक्केमें मैं जोता गया वह अपनी उपमा आप ही था। टूटी हुई छतरी, बांसका कमज़ोर 'बम', महीनेमें चार बार निकल जानेवाला, नहीं नहीं, 'सवारी' को ज़मीन सुंघानेवाला पहिया, अस्सी बरसोंका पुराना असबाब—सब कुछ अद्वितीय था। उसमें जो कुछ कसर थी उसे यहांकी सड़कें पूरी कर देती थीं। मैं बराबर, पांच बजे सवेरेसे दो बजे दिन और पांच बजे शामसे दो बजे राततक, इधर-से-उधर और उधर-से-इधर दौड़ाया जाता था। और? और अठारह घण्टे कठिन श्रम करनेवाले इस मज़दूरको सेरभर चने और एक छोटा गट्ठर घासका मिलता था ! पेट जैसे भरता था वह मैं जानता हूं ; पर परिश्रममें कभी कमी नहीं हुई ! वही रफ़्तार जो एक बार चली वह मेरे मरते दमतक चलती गयी !"

"स्वामीको मेरे चलनेका और ज़रा भी अड़नेका

जितना ध्यान रहता उसका षोड़शांश भी मेरे भोजन और जलपानका नहीं। डण्डे और चाबुक तो बात बातमें मिलते थे। आह! क्या ही अच्छा होता यदि विधाताने हमारी खुराक 'मार' ही बनायी होती! पापी पेट तो भर जाता? अपमानसे तो बचता? पीठमें पीड़ा तो न होती?"

"ज़बरदस्ती चौमुहानीपरके सिपाहीको एक या दो पैसे देनेके कारण स्वामीको जो क्रोध होता उसका दमन हमारी पीठ-पूजासे होता! दारोग़ाके लिये बेगार जानेके कारण, कम पैसे मिलने या बिलकुल न मिलनेके कारण उत्पन्न हुआ चोभ मेरे मुंहमें कांटेदार लगाम गड़ाकर ही शान्त होता। 'आन करे अपराध कोउ आन पावे फल भोग' की तस्वीर, हमें दिनमें अनेक बार देखनेको मिलती! इन सब दुःखोंपर महादुःख यह कि कोई अपना साथी नहीं, कोई अपने करुण-स्वरमें सहानुभूतिकी 'आह' मिलानेवाला नहीं! हायरे हमारा जीवन!!"

५

"जेठका महीना था। मनुष्योंके लिये भयंकर गर्मी पड़ रही थी। सड़कें तवा हो रही थीं। मध्याह्न का सूर्य खोपड़ी चाट रहा था। पर मैं 'चाबुक' के इशारेपर मैदागिनीकी चौमुहानी पार करता हुआ कचहरीकी ओर दौड़ा जा रहा था। बड़े ज़ोरों की—

ईश्वर गवाह है बड़े जोरोंकी प्यास लगी हुई थी। मेरा तलवा चटक रहा था, कलेजा मुंहको आ रहा था, चमड़ेकी पट्टियोंसे घिरी आंखें बाहर निकल जानेको तैयार थीं। फिर भी मैं बराबर दौड़ाया जा रहा था! निर्दय मनुष्य मेरी भाषा क्या जानें; भाव भी नहीं जानते। अपनी प्रार्थना सुनाने, कुछ इच्छा प्रकट करनेके विचारसे मैं एक बार रुका, पर, व्यर्थ! चाबुककी मर्मस्पर्शी चोटोंने गरज कर कहा—'आगे बढ़ गुलाम!'

"'आज' आफ़िसके आगे हमारे लिये पत्थरका एक हौज बना है। उसमें मैंने अनेक बार जलपान किया है, पर कभी आवश्यकता पड़नेपर नहीं। कभी घण्टों प्यासा रहनेके बाद वहां पानी मिला और कभी बिना प्यासके ही मालिकके मुखसे—'अबे पी ले! फिर पानी नहीं मिलनेका।'—सुन कर, अनिच्छासे भी, वहांका गन्दा, गर्म और अपवित्र जल पीना पड़ा था। पर, उस दिन मैं तड़प कर रह गया, आंखें ललच कर रह गयीं, हृदय मचल कर रह गया, प्राण पुकार कर रह गये—मुझे पानी नहीं पीने दिया गया! किसी तरह जगतगंजकी चौमुहानीके पास पहुंचा।"

"दूरहीसे मैंने और मालिकने देखा, चौमुहानीके पास, बीच सड़कपर, एक एक्का खड़ा था। उसका

एक्केवान न जाने कहां था। तिसपर, दूसरी ओरसे हमारे एक्के और उस टमटमका इधर उधर होना असम्भव था। संयोग तो देखिये, चौमुहानी परका पुलीसमैन भी कहीं मर गया था—उसका भी पता नहीं था।"

"टमटमपरके सवार कोई हिन्दुस्तानी बाबू जान पड़ते थे। उनसे पुलीसकी वह ग़फ़लत बरदाश्त न हुई। शायद वे जल्दीमें भी थे। उन्होंने ज़ोरसे पुकारा—

"सिपाही ! ओ सिपाही !! कहां गया ?"

"सिपाही किसी कोनेमें वर्दी-पेटी उतारे गर्मीके नामपर दम तोड़ रहा था। एकाएक शासनका भयंकर स्वर और अपनी ग़फ़लतको देखकर वह हड़बड़ा गया। सामने आकर जो देखा कि सड़क रोककर खड़े एक दरिद्र एक्केके कारण उसपर फटकार पड़ना चाहती है, तो, फ़ौरन डण्डा सीधा कर उस एक्केकी ओर झपटा। इधर उस एक्केका एक्केवान भी, जो पेशाब करनेके लिये रुक गया था, लाल पगड़ीके डरसे दौड़कर एक्के पर डट गया और उसे आगे बढ़ानेका उपक्रम, शीघ्रताका नाट्य करते हुए, करने लगा।"

"मगर परशुरामका परशु कभी व्यर्थ उठता है ? 'बदमाश ! हरामज़ादे !' कहकर सिपाहीने एक्केवानकी ग़लतीके लिये उसके जानवरपर डण्डे बरसाना आरम्भ कर दिया। एक दो नहीं, दस-बीस डण्डे उस अभागे

जीवपर, बड़ी ही निर्दयतासे, पड़े ! वह तिलमिला उठा ! इतनेहीसे समाप्त नहीं हुआ, उस एक्केवानने भी उसे पीट-पाटकर आगे बढ़ाना आरम्भ किया। हाय! अभागे पशुओ ! किस पापके प्रायश्चित्तके लिये तुम मृत्युलोकमें, ख़ासकर बनारसमें, घोड़ोंके रूपमें भेजे जाते हो ?"

"उस घटनासे क्षुब्ध होकर मैंने ईश्वरसे नरजातिके नाशको प्रार्थना की और यह वरदान मांगा कि,—प्रभो ! मरते-मरते मुझे एक बार युद्धस्थलका घोड़ा बना दो। मैं मनुष्य जातिका नाश देखकर अपने दुःखित आत्माको प्रसन्न करूंगा। उनके रक्तसे अपने पैर साफ़ करूंगा। पर, यह मेरी क़िस्मतमें कहां था ?"

* * *

"थोड़ी ही दूर जानेपर मुझे अपनी जातिके उस जीवको देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ जिसपर क्षणभर पहले अत्याचार—राक्षसी अत्याचार—हुआ था। हाय! वह जीव और कोई नहीं मेरी वृद्धा माता थी! उसकी ठठरी-हड्डी दिखाई पड़ती थी! वह अविराम अश्रुपात कर रही थी !"

"मेरा भूखा, प्यासा, झुलसा, थका, दुःखित, अपमानित तथा माताकी दुर्दशा देखकर पीड़ित पापी शरीर, मां के पास ही लड़खड़ा कर गिरा! मेरे जीवन नाटकका 'ड्राप-सीन' हो गया !! खेल ख़तम हो गया !!"

रामायण (अयोध्याकाण्ड) के मुख्य पात्रों पर धर्म-संकट और उनका निर्वाह

[बलभद्रप्रसाद मिश्र (सं० १९६१ वि०—वर्तमान)—प्रयाग विश्वविद्यालयसे एम० ए० की डिग्री लेकर आप सम्पादन-कलाकी ओर झुके। विद्यार्थी होते हुए भी अखबारनवीसीको ही अपना ध्येय मानते थे। दैनिक तथा साप्ताहिक 'प्रताप' में कुछ कालतक रह कर सन् १९२४ ई० से दैनिक 'भारत' का सम्पादन करने लगे हैं। आपकी शैली आपकी रुचि एवं व्यवसायके अनुकूल ही सरल, स्पष्ट और स्वाभाविक है।]

रामचरितमानस का सबसे उत्तम अंश अयोध्याकांड कहा जाता है। इस कांड की दो विशेषताएं हैं। प्रथम तो इस कांड में अन्य कांडों की अपेक्षा मानव हृदय तथा उसके भिन्न-भिन्न प्रकार के भावों का अधिक स्वाभाविक वर्णन मिलता है। दूसरी विशेषता यह है कि इस कांड में प्रायः प्रत्येक मुख्य पात्र पर एक या अनेक बार धर्म-संकट (conflict of duty) पड़ा है और उसका बड़ा ही अच्छा निर्वाह हुआ है। पात्रों के सामने दो विरोधी कर्तव्य आ जाते हैं और उन्हें उन दोनों पर विचार करके अपना मार्ग निश्चित करना पड़ता है। यहां हम इस कांड की दूसरी

विशेषता अर्थात् पात्रों के धर्म-संकट तथा उनके निर्वाह पर विचार करेंगे।

यह विचार करते समय कि अमुक पात्र ने जो अपना कर्तव्य निश्चित किया है वह ठीक है या नहीं, एक बड़ी कठिनाई हमारे सामने आ जाती है। यदि हम उनको धार्मिक अवतारों अथवा आदर्शपुरुष की दृष्टि से देखते हैं, तो हमारा निर्णय कुछ और ही होता है; और यदि हम उन्हें राजनीतिक दृष्टि से देखते हैं तो हमारा निर्णय दूसरा होता है।

अयोध्याकांड में सबसे पहले धर्म-संकट कैकेयी के सम्मुख उपस्थित होता है। वह राम का राज्याभिषेक सुनकर आनंद मनाये या उनको वन भेजकर अपने पुत्र भरत को राज्य दिलाये। यथार्थ में इसे हम धर्म-संकट नहीं कह सकते, क्योंकि यहां दो विरोधी कर्तव्य कैकेयी के सामने एक साथ नहीं आते। इसे हम अद्भुत विचार-परिवर्तन कह सकते हैं। फिर भी इस विचार-परिवर्तन पर विवेचना करना विषयान्तर न होगा, क्योंकि दोनों विचार हैं अत्यंत विरोधी।

मंथरा जब मुंह लटकाये राम के अभिषेक का समाचार कैकेयी को सुनाने जाती है, तो कैकेयी उसे उदास देखकर सबसे पहले राम की कुशल पूछती है और भरत की उसके बाद। यथा—

'सभय रानि कह कहसि किन, कुसलु राम महिपालु।
लखन-भरत-रिपुदमन सुनि, भा कुबरी उर सालु॥'

इसके बाद जब मंथरा बताती है कि राम को कल राज्य मिलेगा तो कैकेयी को बड़ी प्रसन्नता होती है। वह कहती है—

'राम तिलकु जो सांचेहु काली।
देउं मांगु मनभावन आली।'

मंथरा कैकेयी को अब यह समझाती है कि राजा ने जान-बूझकर भरत को ननिहाल भेजा है और कौशल्या ने राम को राज्य दिलाने का यह अच्छा अवसर सोचा है। यह बात भी कैकेयी के हृदय में राम के प्रति कोई विरोध उत्पन्न नहीं कर पाती, वरन् उसे चेरी का इस भांति समझाना बुरा लगता है। वह मंथरा को आपस में फूट कराने के लिए डांटती है—

'पुनि अस कबहुं कहसि घर फोरी।
तब धरि जीभ कढ़ावौं तोरी।'

* * *

'प्रानतें अधिक रामु प्रिय मोरे।
तिनके तिलक छोभु कस तोरे॥'

यहां तक तो कैकेयी का चित्त ठीक रहता है और राम का तिलक होना ही उसे सर्वथा उचित दिखाई देता है; परन्तु इसके बाद मंथरा का रूठकर यह कहना—

'अनभल देखि न जाइ तुम्हारा ।'
'जर तुम्हारि चह सवति उखारी ।'
'भामिनि भयउ दूध की माखी ।'

आदि बातें उसका मन फेर देती हैं। वह राम की पक्की शत्रु हो जाती और कहती है—

'नैहर जनमु भरब बरु जाई।
जियत न करब सवति सेवकाई ।'

अब तो उसे केवल इतने ही से संतोष नहीं है कि भरत को राज्य मिले, वह यह भी चाहती है कि राम बन को अवश्य जायं। उसे अब राम के नाश ही में अपना सुख दिखाई देता है।

कैकेयी का यह निश्चय, चाहे हम उसे किसी भी दृष्टि से देखें, उचित नहीं जान पड़ता। यदि हम कैकेयी को एक उच्चकुल की स्त्री मानकर इस पर विचार करें, तो उसका यह निर्णय नितान्त अनुचित है। अपनी ही सौत के लड़के राम को, जो उसे स्वयं अपनी माता से अधिक मानता है, बिना किसी अपराध के बनवास दिलाना भला कौन उचित कहेगा! राज-नीतिक दृष्टि से भी कैकेयी का यह कार्य अनुचित है। उसे विचार लेना था कि दशरथजी राम के बिना नहीं जी सकते तथा भरत को भी इससे प्रसन्नता न होगी।

परन्तु जिस समय हमें यह स्मरण हो आता है कि केकेयी की 'गई गिरा मति फेरि,' तो तुरन्त ही वह हमें निर्दोष जान पड़ती है और सारा अपराध भवितव्यता के ऊपर चला जाता है।

दूसरा धर्म-संकट राजा दशरथ के सामने उपस्थित होता है। वह अपने प्राणों से प्यारे राम को, कैकेयी को वचन दे चुकने के कारण, बन भेजें अथवा उन्हें घर रखकर अपने प्रण को तोड़ दें। उन्होंने राम को तिलक करने को तैयारी यही जानकर की थी कि यह कार्य सब को अच्छा लगेगा। उन्हें स्वप्न में भी यह ध्यान न आया था कि कैकेयी राम-बनवास का वरदान मांगेगी, अन्यथा वह उससे कभी वचन-बद्ध न होते। वह कैकेयी से कह रहे हैं—

'भामिनि भयेउ तोर मनभावा।
घर-घर नगर अनंद बधावा।'

परन्तु उसका मनभाया तो अब राम के बनवास ही में है। दशरथजी यहां तक राजी हो जाते हैं कि भरत ही युवराज हों। राम बन न जाने पायं, चाहे उनके प्राण स्वयं ही क्यों न चले जायं।

'मांगु माथ अबहीं देउं तोही।
राम विरह जनि मारसि मोही।'

अन्त में जब कैकेयी किसी भांति नहीं मानती, तो

'रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्रान जाहिं बरु वचन न जाई।'

के अनुसार उसकी बात माननी पड़ती है। वह अपने वरदान देने से बड़े लज्जित होते हैं—

'हृदय मनाव भोर जनि होई।
रामहिं जाइ कहै जनि कोई।'

दशरथ का यह निश्चय हमें तो उचित नहीं जान पड़ता। यद्यपि उन्होंने अपना वचन कैकेयी को दे दिया था, तो भी वे उसका सब अवस्थाओं में प्रतिपालन करने के लिए बाध्य नहीं थे। उन्होंने यह समझते हुए वचन दिया था कि कैकेयी राम के विरुद्ध कभी कोई वरदान नहीं मांगेगी। राम की ही शपथ खाकर वचन देना इस बात का प्रमाण है—'भामिनि राम शपथ सत मोहीं।' यद्यपि यह रघुकुलरीति थी कि 'प्राण जाहिं बरु वचन न जाई' तथापि दूसरी ओर यह भी तो रघुकुल-रीति थी कि युवराज-पद सबसे बड़े पुत्र ही को मिले; अतएव राजा दशरथ ने जब रघुकुल-रीति तोड़ी ही, तो पहली रीति तोड़ देते, जिससे सब काम बन जाता। हम समझते हैं कि दशरथ को उस विपत्ति के समय में इस दूसरी

रीति का ध्यान न रहा होगा, नहीं तो वह ऐसा निश्चय कदापि न करते।

तीसरा धर्म-संकट रामचन्द्रजी के सम्मुख उपस्थित होता है। उनका धर्म-संकट यह है कि वे पिता की आज्ञा मानकर वनवास करें अथवा उसे अनुचित समझकर अयोध्या में रहें और राज्य करें। आज रामचन्द्रजी को कुलगुरु वशिष्ठ उनके घर जाकर उन्हें उनके राज्याभिषेक की सूचना देते हैं, जिसे सुनकर उनका सहज शुद्ध स्वभाव उसमें अनौचित्य पाता है। उनका स्वभाव उनसे यह कहलाता है—

'विमल वंश यह अनुचित एकू।
अनुज विहाइ बड़ेहिं अभिषेकू।'

दूसरे ही दिन उनको एक बिलकुल विपरीत आज्ञा मिलती है। कैकेयी की आज्ञा पाकर सुमंत रामचन्द्र को राजा दशरथ के पास बुलाने जाते हैं। कैकेयी से पूछने पर उन्हें सब बात मालूम होती है। राम को विदित होता है कि उन्हें चौदह बरस के लिए वनवास की आज्ञा मिली है। यद्यपि यह आज्ञा पहले दिन के निश्चय के बिलकुल विपरीत है, परन्तु उसे मानने में वे तनिक भी संकोच नहीं करते; उसे अपना बड़ा भाग्य समझते हैं।

'सुनु जननो सोइ सुत बड़ भागी।
जो पितु-मातु वचन अनुरागी।'

यदि सच पूछा जाय तो राम के सामने यह धर्म-संकट आता ही नहीं है कि वह बन को जायं या न जायं। वे तो माता-पिता के आज्ञाकारी पुत्र हैं। उन्हें बन जाने में प्रसन्नता होती है और यह प्रसन्नता और भी बढ़ जाती है, जब यही उनके पिता माता की भी आज्ञा है। वे कहते हैं—

'मुनिगन मिलनु बिसेषि बन, सबहि भांति हित मोर।
तेहि महं पितु आयसु बहुरि, सम्मति जननी तोर॥'

भरत का राज्य पाना भी राम के लिए कैसा आनन्द-प्रद है—

'भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू।
विधि सब विधि मोहिं सनमुख आजू॥'

राम वहां से आकर हंसते हुए कौशल्या के पास पहुंचे और उनको बनवास का समाचार इस भांति सुनाया—

'पिता दीन्ह मोहिं कानन राजू।
जहं सब भांति मोर बड़ काजू॥'

और उनसे बन जाने की आज्ञा मांगी। राम ने यहां 'अनुचित उचित विचार तज' कर और 'पितु बैन' पालन करके अपूर्व पितृभक्ति दिखलायी है। हमें यहां

विचार करना है कि रामचन्द्रजी ने जो अपना कर्तव्य निश्चित किया, वह ठीक है या नहीं। इस प्रश्न पर तुलसीदासजी के समकालीन तथा उनके परिचित सुकवि रहीम अपनी सम्मति इस भांति देते हैं—

अनुचित वचन न मानिये, यदपि गुरायसु गाढ़ि।
है 'रहीम' रघुनाथ तें, सुजस भरत को बाढ़ि॥

इस विषय पर दो प्रकार से विचार करना उचित है। यदि हम राम को आदर्श पुत्र और—
'प्रसन्नतां यो न गतोभिषिकतस्तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः'

वाले विचारों को मानकर विचार करें तो उनका इस विषय का निर्णय सर्वथा उचित जंचता है। दूसरी ओर यदि हम राम को राजनीतिज्ञ मान लें, तब तो यही कहना पड़ता है कि राम ने वन जाकर भारी भूल की। हम देखते हैं कि सारी अयोध्या को उनके वन जाने की आज्ञा सुनकर दुःख हुआ है और अयोध्यावासी राजा दशरथ की इस आज्ञा को अनुचित मानते हैं। अतएव राम सहज ही में वन न जाकर युवराजपद ले सकते थे। राम यह भी जानते हैं कि राजा दशरथ स्वयं भी उनके इस आज्ञा-उल्लंघन ही में सुखी होंगे। वे उनके बिना जी नहीं सकते। उधर भरत भी उनके इतने भक्त हैं कि राम के युवराजपद ले-लेने में उन्हें प्रसन्नता ही होगी। रघुकुल-रीति तो यह थी ही कि

युवराजपद सबसे बड़े को मिले। अतएव राम अपने पिता की आज्ञा को न मानकर सारी आपत्तियों का निवारण कर सकते थे। परन्तु राम को तो यह रीति पहले ही अनुचित जान पड़ी थी, तब वे भला पितृ-आज्ञा उल्लंघन करके युवराजपद कैसे स्वीकार करते!

राम का बन जाना निश्चित होते ही एक साथ कई पात्रों पर धर्म-संकट आ पड़ते हैं। कौशल्या राम को बन भेजें या न भेजें, सीता राम के साथ बन जायं या घर रहें, यही प्रश्न लक्ष्मण के सामने भी है। सुमित्रा लक्ष्मण को राम की सेवा में भेजें या नहीं और स्वयं राम इन दोनों को बन ले जायं या घर ही पर रहने की आज्ञा दें; एक अजब गड़बड़ी पैदा हो गयी है। प्रायः प्रत्येक मुख्य पात्र के हृदय में दो विरोधी कर्तव्यों का युद्ध हो रहा है। यहां हम इन सब पर क्रमशः विचार करेंगे।

कौशल्या को राम-बनवास की आज्ञा सुनकर एक बड़ा भारी धक्का पहुंचता है। कहां तो इस विचार में मग्न हैं कि आज राम को युवराजपद मिलेगा और कहां बिना किसी पूर्व सूचना के एकबारगी उनको राम बनवास की खबर मिलती है। यदि उन्हें इस बात की पहले से तनिक भी शंका होती, तो उनके

हृदय पर इतनी अधिक चोट न बैठती। वे राम-बनवास की बात सुनकर बड़े ही धर्म-संकट में पड़ जाती हैं। कौशल्या के धर्म-संकट को गोस्वामीजी ने इस भांति वर्णित किया है—

राखौं सुतहि करौं अनुरोधू।
धरम जाइ अरु बंधुविरोधू॥
कहौं जान बन तौ बड़ि हानी।
संकट-सोच-बिबस भै रानी॥

इस कठिनाई को सुलझाने की एक युक्ति कौशल्या के ध्यान में आती है। वह राम से यह पूछती हैं कि बन जाने की आज्ञा तुमको केवल तुम्हारे पिता ने ही दी है या कैकेयी ने भी। यदि पिता ने ही आज्ञा दी हो, तो मैं तुम्हें बन न जाने की आज्ञा देती हूं और तुम माता की आज्ञा पिता की आज्ञा से बड़ी जान कर घर पर रहो।

'जौं केवल पितु आयसु ताता।
तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।'

परन्तु वहां तो माता व पिता दोनों की यही आज्ञा है, यह जानकर फिर कौशल्या संकट में पड़ जाती हैं। अंत में उनका स्त्री-धर्म तथा राम और भरत दोनों के प्रति समान प्रेम उनसे राम को बन जाने की आज्ञा दिला देता है!

'बहुरि समुझि तिय धरमु सयानी।
राम-भरत दोउ सुत सम जानी।
तात जाउ बलि कीन्हेहु नीका।
पितु आयसु सब धरम क टीका।'

कौशल्या के इस निर्णय पर विचार करते समय यद्यपि उनके स्त्री-धर्म को मातृ-धर्म पर प्रधानता देना कुछ अनुचित प्रतीत होता है; परन्तु उनका भरत को राम ही के समान अपना पुत्र समझने का विचार इस अनौचित्य को बिलकुल दूर कर देता है। यदि किसी माता के दो समान पुत्र हों और उनमें एक को वनवास व दूसरे को युवराजपद मिलनेवाला हो, तो वह कैसे यह कहेगी कि दूसरे को युवराजपद न देकर पहले को दिया जाय। अतएव कौशल्या का यह निर्णय अनुचित नहीं जान पड़ता।

राम के वनवास की बात सुन सीताजी व्याकुल हो उठीं। उनकी इच्छा यह हुई कि राम हमको भी अपने साथ ले चलें; परन्तु इस बात का विश्वास नहीं हुआ कि राम उन्हें ले ही चलेंगे। अतएव वे सोचती हैं—

'की तनु प्रान कि केवल प्राना।
विधि करतब कछु जाइ न जाना।'

यह तो सीताजी निश्चय जानती हैं कि यदि राम

उन्हें साथ न भी ले जायंगे, तो भी उनके प्राण अवश्य ही राम के साथ जायंगे। सीताजी को पहले कौशल्याजी घर रहने के लिए समझाती हैं, परन्तु यह समझकर कि शायद राम के समझाने का उन पर ज्यादा असर पड़े, वह राम से कहती हैं—

'जौ सिय भवन रहै कह अंबा।
मोहिं कहं होहि बहुत अवलंबा।'

राम सीता को अपनी माता के सामने समझाने में सकुचते हैं, परन्तु फिर अवसर का विचार करके सीता को शिक्षा देते हैं। वे बन के तरह-तरह के कष्ट बताकर और सीता की सुकुमारता से उनकी तुलना करके, उन्हें हतोत्साह करना चाहते हैं। सीता यह सब सुनकर भी अपने निश्चय पर दृढ़ रहती हैं और राम को इन बातों का उत्तर बड़ी सुन्दरता से देती हैं। वे व्यंगमय वचनों में राम से कहती हैं—

'मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू।
तुमहिं उचित तप, मोकहं भोगू।'

राम अब सीता को दूसरी ही प्रकार से समझाते हैं। वह सीता से कहते हैं कि तुम घर पर माता-पिता की सेवा करने के लिए रहो; माता-पिता की सेवा करना तुम्हारा धर्म है। जब वे हमारे बिछोह से दुखी हों, तब तुम उन्हें अपनी 'मृदुबानी' से समझाना। सीताजी

को यह सब शिक्षा अनुचित जान पड़ती है। पतिव्रत के सामने 'सादर सास-ससुर-पद-पूजा' उन्हें फीकी जंचती है। अतएव वे कहती हैं—

"मैं पुनि समुझि दीख मन माहीं।
पिय वियोग सम दुख जग नाहीं॥'

*   *   *   *

'तनु धनु धामु धरनि सुरराजू।
पतिविहीन सब सोक समाजू।'

अन्त में उनका वन जाना तय हो जाता है और वह भी कौशल्या से विदा मांगती हैं।

हमें सीताजी का यह निश्चय बिलकुल उचित जान पड़ता है। स्त्री का कर्तव्य यही है कि वह पति का विपत्ति में भी साथ न छोड़े, फिर भला सीता जैसी आदर्श स्त्री का तो यह कर्तव्य होना ही चाहिए।

रामचन्द्रजी के अनन्य भक्त लक्ष्मण ने जब राम-वनगमन का समाचार सुना, तो वे घबड़ा गये। उनके मन में यह शंका आने लगी—

'मोकहं काह कहब रघुनाथा।
रखिहहिं भवन कि लेहहिं साथा।'

राम उनको भी घर रहने की शिक्षा देते हैं और कहते हैं कि माता-पिता को सांत्वना देते रहना। लक्ष्मण अपने आराध्य-देव राम के वचनों का उत्तर नहीं

दे सकते। उनकी समझ में राम की बात को काटना अनुचित होगा, परन्तु घर पर न रहने की बेबसी को वे अपनी आकृति द्वारा प्रकट कर देते हैं, वे एकबारगी कह उठते हैं—

'नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह तजहु त कहा बसाइ।'

* * * *

'मोरे सबइ एक तुम स्वामी।
दीनबंधु उरअन्तरजामी।'

राम को लक्ष्मण की ऐसी दृढ़ प्रीति देखकर उन्हें वन ले चलने की स्वीकृति देनी ही पड़ती है।

लक्ष्मण का यह कर्तव्य साधारण दृष्टि से बहुत उचित नहीं जान पड़ता। अवश्य ह ै किसी मनुष्य का कर्तव्य अपने भाई के प्रति उतना नहीं होना चाहिए, जितना अपने माता-पिता के प्रति; फिर ऐसे विशेष अवसर पर, जब कि भरत व शत्रुघ्न भी घर पर नहीं हैं और माता-पिता पर विपत्ति पड़ी है, लक्ष्मण को अपने पिता की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए था। यह तो बात ही और है कि लक्ष्मण राम ही को सर्वस्व समझते हों—'मोरे सबइ एक तुम स्वामी।'

लक्ष्मण के सुमित्रा के पास वन जाने की आज्ञा लेने जाते ही सुमित्रा पर भी धर्म-संकट आ जाता है। वे मोह में फंसकर लक्ष्मण को वन जाने से रोकें या

उन्हें वन भेजें। इस सम्बन्ध में सुमित्रा का निर्णय सर्वथा स्तुत्य है। यद्यपि लक्ष्मण अपनी माता से आज्ञा मांगने में सकुचते हैं—

'मांगत बिदा सभय सकुचाहीं।
जाइ संग, बिधि, कहहि कि नाहीं।'

परन्तु सुमित्रा अपने मोह को दबाकर लक्ष्मण को वन जाने की आज्ञा देने में तनिक भी नहीं सकुचतीं, वरन् उन्हें राम-जानकी की सेवा करने का उपदेश देती हैं। वे अपने धर्म-संकट को तुरन्त ही दूर करके अपना कर्तव्य निश्चित कर लेती हैं। उनकी निम्नलिखित सीख बड़ी ही ज़ोरदार है—

'तात तुम्हारि मातु वैदेही।
पिता राम सब भांति सनेही।'

* * * *

'जौं पै सीय-रासु बन जाहीं।
अवध तुम्हार काज कछु नाहीं।'

* * * *

'जेहि न राम बन लहहिं कलेसू।
सुत सोइ करेहु इहै उपदेसू।'

सुमित्रा में मोह को अपने हृदय से दूर हटा देने की शक्ति है। उनका लक्ष्मण को उपदेश आदर्श भ्रातृभक्ति का उपदेश है।

यदि सच पूछा जाय, तो अयोध्याकांड भर में धर्म-संकट केवल भरत ही पर पड़ता है। वे दो विरोधी कर्तव्यों के बीच में बुरी तरह पिस रहे हैं। एक ओर माता-पिता की उनके लिए यह आज्ञा है कि वह राज्य स्वीकार करें। कुलगुरु इत्यादि भी उनको राज्य स्वीकार करने के लिए ही जोर दे रहे हैं। दूसरी ओर उनका अन्तःकरण उनसे बार-बार कह रहा है कि यह आज्ञा अनुचित है। राम के साथ बड़ा ही अन्याय किया गया है, राज्य पाने के अधिकारी वे ही हैं; अतएव तुम यह पद स्वीकार न करो।

भरत अपने ननिहाल से लौटकर अयोध्या चले आ रहे हैं। भांति-भांति के अपशकुनों से उन्हें भावी अनिष्ट की सूचना मिल रही है। कैकेयी से मिलते ही वे अपने पिता तथा राम आदि की कुशल पूछते हैं। कैकेयी अपने मन में समझती हैं कि भरत उनके वरदानों की बात सुनकर बहुत प्रसन्न होंगे। वे कहती हैं—

'तात बात मैं सकल संवारी।
भइ मंथरा सहाय बिचारी।'

परन्तु भरत ज्यों ही दशरथ की मृत्यु तथा राम, सीता और लक्ष्मण के वनवास की सूचना पाते हैं, त्योंही वे बड़े ही दुखी होते हैं। सबसे अधिक दुःख उन्हें इस बात का है कि उनके ही कारण इतना उपद्रव हुआ है।

उनकी ही भलाई के लिए उनकी माता ने इतना बड़ा अनर्थ कर डाला। अतएव वे कह उठते हैं—

'वर मांगत मन भइ नहिं पीरा।
गरि न जीह मुंह परेउ न कीरा।'
'कइकइ कत जनमी जग मांझा।
जो जनमति भइ काहे न बांझा।
कुल कलंक जेहि जनमेउ मोहीं।
अपजस भाजन प्रियजन द्रोही।'

भरतजी तुरन्त कौशल्या के पास जाते हैं। उन्हें अब यह बात आवश्यक जान पड़ती है कि वे कौशल्या आदि को यह विश्वास दिला दें कि वे स्वयं इस षड़यंत्र से बिलकुल अलग थे। वे सैकड़ों शपथ खाते हैं कि मेरी सम्मति से ये वरदान कदापि नहीं मांगे गये हैं।

'जे अघ मातु-पिता सुत मारे।
गाइ-गोठ महिसुरपुर जारे।
जे पातक उपपातक अहहीं।
करम-वचन-मन-भव कवि कहहीं।
ते पातक मोहि होहु विधाता।
जौं एहु होइ मोर मत माता।'

'जे परिहरि हरिहर चरन, भजहिं भूत घनघोर।
तेहि कैं गति मोहिं देहु विधि, जौं जननी मत मोर॥'

परन्तु वहां तो इन शपथों की आवश्यकता ही नहीं

थी। कौशल्या का मन उनकी ओर से बिलकुल साफ था। तो भी भरत को यह निश्चय कराने के लिए कि उन्हें उनकी नेकनीयती का पूर्ण विश्वास है, कौशल्या को यह कहना पड़ता है—

'मत तुम्हार एह जो जग कहहीं।
सो सपनेहुं सुख सुगति न लहहीं।'

राजा दशरथ के शव का दाह-संस्कार आदि करने के बाद वशिष्ठजी भरत को ज्ञानोपदेश करते हैं और उनसे पिता की आज्ञा मानने का अनुरोध करते हैं।

'अनुचित उचित विचार तजि,
जे पालहिं पितु बयन।
ते भोजन सुख सुजस के,
बसहिं अमरपति अयन॥"

ये उपदेश भरत के ध्यान में बिलकुल नहीं आते। वे अपनी बात पर दृढ़ रहते हैं और यह विचार करते हैं कि वे राम को बन से लौटाकर सिंहासन पर बैठाएं और स्वयं उनके बदले वनवास करें। अतएव वे माताओं, कुलगुरु वशिष्ठ तथा समस्त फौज को लेकर राम-जानकी से मिलने चल दिये। चित्रकूट पहुंचकर भरत राम से मिले और उन्हें हर तरह से घर लौट चलने के लिये विवश किया ; परन्तु राम ने बन से न लौटने की दृढ़ता दिखायी, और भरत को भी पिता की आज्ञा

पालन करने का उपदेश दिया। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस अवसर पर वशिष्ठजी भी भरत की ओर से पैरवी कर रहे हैं और राम से राज्य स्वीकार करने को कहते हैं। भरत ने अपने नम्र निवेदन को इस भांति प्रकट किया है—

'सानुज पठइय मोहिं बन, कीजिय सबहिं सनाथ।
नतरु फेरि यहि बंधु दोउ, नाथ चलौं मैं साथ॥'

इससे यह प्रकट होता है कि भरत राम को अयोध्या लौटा ले चलने पर उतना जोर नहीं देते, जितना कि अपना राम के साथ रहने और उनकी सेवा करने पर। राम भरत को अयोध्या का प्रबन्ध करने के लिये लौटाना ही चाहते हैं और उन्हें अत्यन्त गम्भीर उपदेश देते हैं, जिसे सुनकर भरत को विवश होकर कहना पड़ता है—

'अब कृपाल जस आयसु होई।
करौं सीस धरि सादर सोई।
सो अवलंब देउ मोहिं देई।
अवधि पार पावौं जेहि सेई।'

यहां पर राम ने भरत को राज्य-शासन सम्बन्धी उपदेश दिया है। यह उपदेश तो भरत को बहुत उचित जंचा, परन्तु बिना किसी आधार के उनका मन शांत न हुआ।

'बन्धु प्रबोध कीन्ह बहु भांती।
बिनु अधार मम तोषु न सांती।

अतएव राम ने उनको अपनी खड़ाऊं दे दीं और भरत उन्हें सादर लेकर चल दिये।

'प्रभु करि कृपा पांवरी दीन्हीं।
सादर भरत सीस धरि लीन्हीं।

उन्हीं खड़ाउओं को सिंहासन पर रखकर और स्वयं तपस्वी और सेवक के समान रहकर राज-काज करने लगे। अब उनका यह नित्य-कर्म हो गया—

'नित पूजन प्रभु पांवरी, प्रीति न हृदय समाति।
मांगि मांगि आयसु करत, राज-काज बहु भांति॥'

जितना ही विकट धर्म-संकट भरत के सामने उपस्थित हुआ है उतना ही अच्छा उन्होंने उसका निर्वाह भी किया है। उन्होंने एकबारगी राज्यसिंहासन स्वीकार न करके अपनी उदारता दिखायी है, अपने मन को भी समझा लिया है, और अन्त में राज-काज भी अव्यवस्थित नहीं होने दिया है। राजाके कर्तव्य करते हुए भी उन्होंने राज्य के आनन्द का भोग नहीं किया है। उन्होंने अपने पिता की आज्ञा का उल्लंघन भी किया और उसका पालन भी किया है। राज्य-भार तो अंत में ग्रहण ही किया, परन्तु साथ ही उन्होंने यह भी दिखा दिया कि वास्तव में राज्य पर उनका कोई अधिकार

नहीं है। वह तो राम ही को मिलना चाहिये था। राज-काज तो आप स्वयं संभालते हैं, परन्तु राज्यसिंहासन पर राम की पादुका बैठी हैं। यदि भरतजी सीधे ननिहाल से आते ही राज्य ग्रहण कर लेते, तो वह केवल आज्ञाकारी पुत्र ही कहलाते; परन्तु ऐसा न करने से उनका चरित्र बहुत उज्ज्वल हो गया है। यहां यह न समझ लेना चाहिये कि भरत वास्तव में राज्य करना चाहते थे; परन्तु अपने चरित्र को उज्ज्वल करने ही के लिये उन्होंने इतना दिखावा किया है। ऐसा समझना भरतजी को एक कमीना राजनीतिज्ञ मानना होगा और साधु भरत के प्रति अन्याय कभी क्षम्य नहीं हो सकता।

अन्त में हम देखते हैं कि इस कांड भर में वास्तव में केवल तीन धर्म-संकट आते हैं। पहला राजा दशरथ पर, दूसरा कौशल्या पर, और तीसरा भरत पर। सब से बड़ा धर्म-संकट भरत के सम्मुख है और उसका निर्वाह भी उसी के अनुरूप हुआ है। हम दशरथ के धर्म-संकट-निर्वाह से सन्तुष्ट नहीं हैं। उनका अपनी कुटिल स्त्री से प्रतिज्ञाबद्ध होकर उसीके वचन को सब परिस्थितियों में प्रतिपालन करना ठीक नहीं जंचता। उन्हें ऐसे अनुचित निर्णय का फल भी उनकी मृत्यु के रूप में तुरन्त ही मिल गया। कौशल्या ने अपने

धर्म-संकट का हमारे विचार में उचित निर्वाह किया है।

यहां पर यह दिखा देना अनुचित न होगा कि हमारे कवियों को रचनाओं में धार्मिक भावों के आ जाने के कारण, कला की दृष्टि से, उनमें कैसी असम्बद्धता आ जाती है। इतना सब उपर्युक्त विचार करने के बाद भी ज्योंही हम इस बात को याद दिलानेवाली कोई पंक्ति पढ़ते हैं कि राम, दशरथ आदि पात्र जो कुछ कहते या करते हैं वह अपनी प्रेरणा से नहीं, वरन् एक और ही कार्य के निमित्त; तो इन पात्रों के कार्यों की वास्तविकता जाती रहती है। कौशल्या व दशरथ का राम के लिये विलाप, सीता का बन जाने के लिये अनुरोध आदि बातें बनावटी और अवास्तविक लगने लगती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि राम, दशरथ, सीता आदि पात्र किसी नाटक का अभिनय कर रहे हैं!

———

पद्यांश

चेतावनी

[कबीर साहब (सं० १४५५—१५७५ वि०)—ये प्रसिद्ध महात्मा और सुधारक थे। हिन्दी कवियोंमें इनका स्थान बहुत ऊंचा है। इनकी वाणीका संग्रह बीजक नामसे और इनका चलाया हुआ मत कबीर-पंथके नामसे प्रसिद्ध है। इनके भजन मंदिरोंमें गाये जाते हैं। इनकी साखियां कहावतोंका काम करती हैं। कबीर-पंथियोंमें हिन्दू मुसलमान दोनों प्रकारके शिष्य पाये जाते हैं।]

कबिरा गर्व न कीजिये काल गहे कर केस।
ना जानौं कित मारिहै क्या घर क्या परदेस ॥१॥
झूठे सुख को सुख कहैं मानत हैं मन मोद।
जगत चबेना काल का कुछ मुख में कुछ गोद ॥२॥
कुसल कुसल ही पूछते जग में रहा न कोय।
जरा मुई ना भय मुआ कुसल कहां से होय ॥३॥
पानी केरा बुदबुदा अस मानुष की जात।
देखत ही छिप जायगा ज्यों तारा परभात ॥४॥
रात गंवाई सोय कर दिवस गंवाया खाय।
हीरा जनम अमोल था कौड़ी बदले जाय ॥५॥
आछे दिन पाछे गये गुरु से किया न हेत।
अब पछतावा क्या करे चिड़ियां चुग गईं खेत ॥६॥

काल्ह करै सो आज कर आज करै सो अब्ब।
पल में परले होयगी बहुरि करैगा कब्ब ॥७॥
पाव पलक की सुधि नहीं करै काल्ह का साज।
काल अचानक मारसी ज्यों तीतर को बाज ॥८॥
कबिरा नौबत आपनी दिन दस लेहु बजाय।
यह पुर पट्टन यह गली बहुरि न देखौ आय ॥९॥
पांचों नौबत बाजती होत छतीसों राग।
सो मंदिर खाली पड़ा बैठन लागे काग ॥१०॥
ऊजड़ खेड़े ठीकरी गढ़ि गढ़ि गये कुम्हार।
रावन सरिखा चलि गया लंका का सरदार ॥११॥
कबिरा गर्व न कीजिये अस जोबन की आस।
टेसू फूला दिवस दस खंखर भया पलास ॥१२॥
कबिरा गर्व न कीजिये ऊंचा देख अवास।
काल्ह परौं भुइं लेटना ऊपर जमसी घास ॥१३॥
ऐसा यह संसार है जैसा सेमर फूल।
दिन दस के व्योहार में झूठे रंग न भूल ॥१४॥
माटी कहै कुम्हार को तूं क्या रूंदै मोहिं।
इक दिन ऐसा होयगा मैं रूंदूंगी तोहिं ॥१५॥
कबिरा यह तन जात है सकै तो ठौर लगाव।
कै सेवा कर साध की कै गुरु के गुन गाव ॥१६॥
मोर तोर की जेवरी बटि बांधा संसार।
दास कबीरा क्यों बंधै जाके नाम अधार ॥१७॥

दुर्लभ मानुष जनम है देह न बारंबार।
तरवर ज्यों पत्ता झड़े बहुरि न लागे डार ॥१८॥
आये हैं सो जायंगे राजा रंक फकीर।
एक सिंघासन चढ़ि चले इक बंधि जात जंजीर ॥१९॥
जो जानहु जिव आपना करहु जीव को सार।
जियरा ऐसा पाहुना मिले न दूजी बार ॥२०॥
कबिरा यह तन जात है सके तो राख बहोर।
खाली हाथों वे गये जिन के लाख करोर ॥२१॥
आस पास जोधा खड़े सबी बजावैं गाल।
मांझ महल से ले चला ऐसा काल कराल ॥२२॥
तन सराय मन पाहरू मनसा उतरी आय।
कोउ काहु का है नहीं देखा ठोंक बजाय ॥२३॥
मैं मैं बड़ी बलाय है सको तो निकसो भाग।
कह कबीर कब लग रहै रुई लपेटी आग ॥२४॥
बासर सुख ना रैन सुख ना सुख सपने माहिं।
जो नर बिछुड़े नाम से तिनको धूप न छाहिं ॥२५॥
अपने पहरे जागिये ना पड़ि रहिये सोय।
ना जानों छिन एक में किसका पहरा होय ॥२६॥
दीन गंवायो भंग दुनो दुनी न चाली साथ।
पांव कुल्हाड़ी मारिया मूरख अपने हाथ ॥२७॥
मैं भंवरा तोहिं बरजिया बन बन बास न लेय।
अटकेगा कहुं बेल से तड़पि तड़पि जिय देय ॥२८॥

बाड़ो के बिच भंवर था कलियां लेता बास।
सो तो भंवरा उड़ि गया तजि बाड़ो की आस ॥२८॥
भय बिनु भाव न ऊपजे भय बिनु होय न प्रीति।
जब हिरदे से भय गया मिटो सकल रस रीति ॥३०॥
भय से भक्ति करे सबे भय से पूजा होय।
भय पारस है जीव को निर्भय होय न कोय ॥३१॥
ऐसी गति संसार की ज्यों गाड़र की ठाट।
एक पड़ा जेहि गाड़ में सबे जायं तेहि बाट ॥३२॥
इक दिन ऐसा होयगा कोउ काहु का नाहिं।
घर की नारी को कहे तन की नारी जाहिं ॥३३॥
भंवर बिलंबे बाग में बहु फूलन की आस।
जीव बिलंबे विषय में अंतहु चले निरास ॥३४॥
चलती चक्की देखि के दिया कबीरा रोय।
दुइ पट भीतर आइ के साबित गया न कोय ॥३५॥
सेमर सुवना सेइया दुइ ढेंढ़ी की आस।
ढेंढ़ी फूटि चटाक दे सुवना चला निरास ॥३६॥
धरती करते एक पग समुंदर करते फाल।
हाथन परबत तोलते तिनहुं खाया काल ॥३७॥
आज काल्ह दिन एक में इस्थिर नाहिं सरीर।
कह कबीर कस राखिहो कांचे बासन नीर ॥३८॥
माली आवत देखि के कलियां करें पुकार।
फूली फूली चुनि लिये काल्हि हमारी बार ॥३९॥

कांचो काया मन अथिर थिर थिर काज करंत।
ज्यों ज्यों नर निधड़क फिरत त्यों त्यों काल हसंत ॥४०॥
हम जानें थे खायंगे बहुत जमीं बहु माल।
ज्यों का त्यों हो रह गया पकरि ले गया काल ॥४१॥
दव की दाही लाकड़ी ठाढ़ी करे पुकार।
अब जो जाउं लोहार घर डाहै दूजी बार ॥४२॥
जरनेहारा भी मुआ मुआ जरावन-हार।
है है करते भी मुए कासों करौं पुकार ॥४३॥
भाई बीर बटाउआ भरि भरि नैनन रोय।
जाका था सो ले लिया दीन्हा था दिन दोय ॥४४॥
तेरा संगी कोइ नहीं सबै स्वारथी लोय।
मन परतीति न ऊपजै जिव विस्वास न होय ॥४५॥
कबिरा रसरी पांव में कह सोवै सुख चैन।
स्वांस नगाड़ा कूंच का बाजत है दिन रैन ॥४६॥
पात झरंता यों कहै सुनु तरवर बनराय।
अब के बिछुरे ना मिलैं दूर परैंगे जाय ॥४७॥
कबिरा जंत्र न बाजई टूटि गया सब तार।
जंत्र बिचारा क्या करे चला बजावन-हार ॥४८॥
साथी हमरे चलि गये हम भी चालनहार।
कागद में बाकी रही तातें लागी बार ॥४९॥
दस द्वारे का पींजरा तामें पंछी पौन।
रहिबे को आचरज है जाय तो अचरज कौन ॥५०॥

सुर नर मुनि औ देवता सात द्वीप नव खंड।
कह कबीर सब भोगिया देह धरे का दंड ॥५१॥

उपदेश

जो तोको कांटा बुवै ताहि बोव तू फूल।
तोहि फूल को फूल है वाको है तिरसूल ॥५२॥
दुर्बल को न सताइये जाकी मोटी हाय।
बिना जीव की स्वांस से लोह भसम ह्वै जाय ॥५३॥
कबिरा आप ठगाइये और न ठगिये कोय।
आप ठगा सुख होत है और ठगे दुख होय ॥५४॥
या दुनिया में आइके छांड़ि देइ तू ऐंठ।
लेना होइ सो लेइ ले उठो जात है पैंठ ॥५५॥
ऐसो बानी बोलिये मनका आपा खोय।
औरन को सीतल करै आपहुं सीतल होय ॥५६॥
जग में बैरी कोइ नहीं जो मन सीतल होय।
या आपा को डारि दे दया करै सब कोय ॥५७॥
हस्ती चढ़िये ज्ञान की सहज दुलीचा डारि।
स्वान रूप संसार है भूसन दे झख मारि ॥५८॥

वाजन देह जंतरी कलि कुकही मत छेड़।
तुझे पराई क्या पड़ी अपनी आप निबेड़ ॥५९॥
आवत गारी एक है उलटत होय अनेक।
कह कबीर नहिं उलटिये वही एक की एक ॥६०॥
गारी ही सों ऊपजै कलह कष्ट औ मीच।
हारि चलै सो साधु है लागि मरै सो नीच ॥६१॥
जैसा अनजल खाइये तैसा ही मन होय।
जैसा पानी पीजिये तैसी बानी सोय ॥६२॥
मांगन मरन समान है मति कोइ मांगो भीख।
मांगन ते मरना भला यह सतगुरु की सीख ॥६३॥
उदर समाता अन्न ले तनहिं समाता चीर।
अधिकहिं संग्रह ना करै ताका नाम फकीर ॥६४॥
कहते को कहि जान दे गुरु की सीख तु लेइ।
साकट जन औ स्वान को फिर जवाब मत देइ ॥६५॥
जो कोइ समझै सैन में तासों कहिये बैन।
सैन बैन समझै नहीं तासों कछू कहै न ॥६६॥
बहते को मत बहन दे कर गहि एंचहु ठौर।
कहा सुना मानै नहीं बचन कहो दुइ और ॥६७॥
सकल दुरमती दूर करि आछो जन्म बनाव।
काग गमन गति छांड़ि दे हंस गमन गति आव ॥६८॥
मधुर बचन हैं औषधी कटुक बचन हैं तीर।
स्रवन द्वार ह्वै संचरैं सालैं सकल सरीर ॥६९॥

बोलत ही पहिचानिये साहु चोर को घाट।
अंतर की करनी सबै निकसै मुख की बाट ॥७०॥
पढ़ि पढ़ि के पत्थर भये लिखि लिखि भये जो ईंट।
कबिरा अंतर प्रेम की लागी नेक न छींट ॥७१॥
नाम भजो मन बसि करो यही बात है तंत।
काहे को पढ़ि पचि मरो कोटिन ज्ञान गरंथ ॥७२॥
करता था तो क्यों रहा अब करि क्यों पछिताय।
बोवे पेड़ बबूल का आम कहां तें खाय ॥७३॥
कबिरा दुनिया देहरे सीस नवावन जाय।
हिरदे माहीं हरि बसैं तू ताही लौ लाय ॥७४॥
मन मथुरा दिल द्वारिका काया कासी जान।
दस द्वारे का देहरा तामें जोति पिछान ॥७५॥
पूजा सेवा नेम व्रत गुड़ियन का सा खेल।
जब लग पिउ परसे नहीं तब लग संसय मेल ॥७६॥
तीरथ चाले दुइ जना चित चंचल मन चोर।
एको पाप न उतरिया मन दस लाये और ॥७७॥
न्हाये धोये क्या भया जो मन मैल न जाय।
मीन सदा जल में रहै धोये बास न जाय ॥७८॥
पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित हुआ न कोय।
एकै अच्छर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय ॥७९॥
पढ़े गुने सीखे सुने मिटो न संसय सूल।
कह कबीर कासों कहूं येही दुख का मूल ॥८०॥

पंडित और मसालची दोनों सूझै नाहिं।
औरन को करें चांदना आप अंधेरे माहिं ॥८१॥
ऊंचे गांव पहाड़ पर औ मोटे को बांह।
ऐसो ठाकुर सेइये उबरिय जाकी छांह ॥८२॥
हे कबीर तें उतरि रहु संबल परोह न साथ।
सबल घटे औ पग थके जोव बिराने हाथ ॥८३॥
अपा तजो औ हरि भजो नख सिख तजो विकार।
सब जिउ ते निरबैर रहु साधु मता है सार ॥८४॥
बहु बंधन ते बांधिया एक बिचारा जोव।
का बल छूटै आपने जो न छुड़ावै पीव ॥८५॥
समुझाये समुझै नहीं परहथ आप बिकाय।
मैं खैंचत हों आप को चला सो यमपुर जाय ॥८६॥
वोछ तो बेसहि भया तू मति छोड़ अयान।
तू गुणवंत वे निरगुणो मति एकै में सान ॥८७॥
पूरा साहब सेइये सब विधि पूरा होइ।
ओछे नेह लगाइये मूलो आवै खोइ ॥८८॥
पहिले बुरा कमाइ के बांधी विष के मोट।
कोटि कर्म मिट पलक में आवै हरि को ओट ॥८९॥

———

काम

सह कामी दीपक दसा सोखै तेल निवास।
कबिरा हीरा संत जन सहजै सदा प्रकास ॥८०॥
कामी क्रोधी लालची इन से भक्ति न होय।
भक्ति करै कोइ सूरमा जाति बरन कुल खोय ॥८१॥
भक्ति बिगारी कामियां इंद्री केरे स्वाद।
हीरा खोया हाथ से जनम गंवाया बाद ॥८२॥
जहां काम तहं नाम नहिं जहां नाम नहिं काम।
दोनों कबहुं ना मिलैं रबि रजनी इक ठाम ॥८३॥
काम क्रोध मद लोभ को जब लग घट में खान।
कहा मुर्ख कह पंडिता दोनों एक समान ॥८४॥
काम काम सब कोइ कहै काम न चीन्है कोय।
जेती मन की कल्पना काम कहावैं सोय ॥८५॥

क्रोध

कोटि करम लागी रहैं एक क्रोध की लार।
किया कराया सब गया जब आया हंकार ॥८६॥
दसो दिसा से क्रोध की उठी अपरबल आगि।
सीतल संगति साधु की तहां उबरिये भागि ॥८७॥

कुबुधि कमानी चढ़ि रही कुटिल बचन का तीर।
भरि भरि मारै कान में सालै सकल सरीर ॥९८॥
कुटिल बचन सब से बुरा जारि करै तन छार।
साध बचन जल रूप है बरसैं अमृतधार ॥९९॥
करक करेजे गड़ि रही बचन बच्च की फांस।
निकसाये निकसै नहीं रही सो काहू गांस ॥१००॥

लोभ

जब मन लागे लोभ सों गया विषय में सोय।
कहैं कबीर विचारि कै कस भक्ती धन होय ॥१०१॥
कबिरा त्रिस्ना पापिनी तासों प्रीति न जारि।
पैंड पैंड पाछे परै लागै मोटी खोरि ॥१०२॥
कबिरा औंधी खोपरी कबहूं धापै नाहिं।
तीन लोक की संपदा कब आवै घर माहिं ॥१०३॥
आब गई आदर गया नैनन गया सनेह।
ये तीनों तबही गये जबहिं कहा कछु देह ॥१०४॥
बहुत जतन करि कीजिये सब फल जाय नसाय।
कबिरा संचय सूम धन अंत चोर ले जाय ॥१०५॥

मोह

मोह फंद सब फांदिया कोइ न सकै निरवार।
कोइ साधू जन पारखी बिरला तत्त्व बिचार ।१०६।
मोह मगन संसार है कन्या रही कुमारि।
काहु सुरति जो ना करी फिरि फिरि ले अवतारि ॥१०७॥
जहं लग सब संसार है मिरग सबन को मोह।
सुर नर नाग पताल अरु ऋषि मुनिवर सब जोह ॥१०८॥
सलिल मोह की धार में बहि गये गहिर गंभीर।
सुच्छम मछरी सुरति है चढ़िती उलटै नीर ॥१०९॥
अम्रत केरी मोटरी सिर से धरी उतारि।
जाहि कहौं मैं एक हौं मोहिं कहै है चारि ॥११०॥
जाको मुनिवर तप करैं वेद पढ़ैं गुन गाय।
सोई देव सिखापना नहिं कोई पतियाय ॥१११॥
भर्म परा तिहुं लोक में भर्म बसा सब ठाउं।
कहहिं कबीर पुकारि के बसैं भर्म के गाउं ।११२॥
युवा जरा बालापन बीत्यो चौथि अवस्था आई।
जस मुसवा को तकै बिलैया तस यम घात लगाई ।११३॥
दर्पण केरी जो गुफा सोनहा पैठो धाय।
देखत प्रतिमा आपनो भूंकि भूंकि मरि जाय ॥११४॥
मनुष बिचारा क्या करे कहे न खुलैं कपाट।
स्वान चौका बैठाय के पुनि पुनि ऐपन चाट ॥११५॥

अहङ्कार

मान बड़ाई कूकरी संतन खेदी जानि।
पांडव जग पूरन भया सुपच विराजि आनि ॥११६॥
मान बड़ाई जगत में कूकर की पहिचान।
मीत किये मुख चाटही बैर किये तन हानि ॥११७॥
बड़ा हुआ तो क्या हुआ जैसे पेड़ खजूर।
पंथो को छाया नहीं फल लागे अति दूर ॥११८॥
कबिरा अपने जीव तें ये दो बातें धोय।
मान बड़ाई कारने आछत मूल न खोय ॥११९॥
प्रभुता को सब कोउ भजे प्रभु को भजे न कोय।
कह कबीर प्रभु को भजे प्रभुता चेरी होय ॥१२०॥
जह आपा तहं आपदा जहं संसय तहं सोग।
कह कबीर कैसे मिटे चारों दीरघ रोग ॥१२१॥
माया त्यागे क्या भया मान तजा नहिं जाय।
जेहि माने मुनिवर ठगे मान सबन को खाय ॥१२२॥

सुदामा-चरित

[नरोत्तमदास (सं० १५५० वि०—लगभग १६०५ वि०) ये कस्बा बाड़ी जिला सीतापुरके रहनेवाले ब्राह्मण थे। कहा जाता है कि ये सं० १६०२ तक वहां वर्त्तमान थे। ये अच्छे कवि थे। इनकी बनायी दो काव्य-पुस्तकें हैं, 'सुदामा-चरित' और ध्रुव-चरित। सुदामा-चरित की कविता बड़ी सुन्दर है। भाषा परिमार्जित है और उससे इनकी प्रतिभाका परिचय मिलता है। यह छोटासा काव्य बहुत प्रसिद्ध है। ध्रुव-चरित नहीं मिलता।]

(दोहा)

स्त्री—

महादानि जिनके हितू, जदु-कुल-कैरव-चंद।
ते दारिद-संताप तें, रहैं न किमि निरद्वंद ॥१॥
कह्यो सुदामा "बाम ! सुनु, वृथा और सब भोग।
सत्यभजन भगवान को, धर्म-सहित जप-जोग" ॥२॥

(कवित्त)

लोचन-कमल दुख-मोचन तिलक भाल,
स्रवननि कुंडल मुकुट धरे माथ हैं।
ओढ़े पीत-बसन गरे मैं बैजयंती-माल,
संख चक्र गदा और पद्म लिए हाथ हैं ॥

कहत नरोतम संदीपनि गुरु के पास,
तुम ही कहत हम पढ़े एक साथ हैं।
द्वारका के गए हरि दारिद हरैंगे पिय,
द्वारिका के नाथ वे अनाथन के नाथ हैं ॥३॥

(सवैया)

सुदामा—

सिच्छक हौं सिगरे जग को तिय ! ताको कहा अब
देति है सिच्छा
जे तप के परलोक सुधारत संपति की तिनके नहिं
इच्छा ॥
मेरे हिये हरि के पद-पंकज बार हजार ले देखु परिच्छा।
औरन को धन चाहिय बावरि बांभन को धन केवल
भिच्छा ॥४॥

स्त्री—

दानी बड़े तिहुं लोकन में जग जीवत नाम सदा
जिनको ले।
दीनन को सुधि लेत भली बिधि सिद्धि करौ पिय मेरो
मतो ले ॥
दीनदयाल के द्वार न जात सो और के द्वार पे दीन ह्वै
बोले।
श्रीयदुनाथ से जाके हितू सो तिहूं पन क्यों कन मांगत
डोले ॥५॥

सुदामा—

छत्रिन के प्रन जुद्ध, जुवा, सजि बाजि चढ़ै गजराजन हो।
वैस को बानिज और कृषी, प्रन सूद्र को सेवन-साजन
हो॥
बिप्रन को प्रन है जु यही सुख संपति सों कछु काज
नहीं।
कै पढ़िवो कै तपोधन है कन मांगत बांभने लाज
नहीं॥६॥

स्त्री—

कोदो सवां जुरतो भरि पेट, न चाहति हौं दधि दूध
मिठौतो।
सीत बितीत गयौ सिसियातहि हौं हठतो पे तुम्हें न
हठौतो॥
जौ जनतो न हितू हरि सो तुम्हें काहे को द्वारिके पेलि
पठौतो।
या घर तें न गयो कबहूँ पिय! टूटो तवा अरु फूटो
कठौतो॥७॥
पूरन पैज करी प्रहलाद की खंभ सों बांध्यो पिता जिहि
बेरे।
द्रौपदी ध्यान धर्‍यो जबहीं तबहीं पट-कोट लगे चहुं फेरे॥

ग्राह तें छूटि गयंद गयो पिय ! है हरि को निहचे जिय मेरे ।
ऐसे दारिद्र हजार हरैं वे कृपानिधि लोचन-कोर के हेरे ॥८॥

सुदामा—
चक्कवे चौंकि रहे चकि-से तहां भूले-से भूप अनेक गनाऊं ।
देव गंधर्व औ किन्नर जच्छ से सांझ लौं ठाढ़े खरे जिहि ठाऊं ॥
ते दरबार बिलोक्यो नहीं अब तोहि कहा कहिके समुझाऊं ।
रोकिए लोकन के मुखिया तहं हौं दुखिया किमि पैठन पाऊं ॥९॥

स्त्री—
भूले से भूप अनेक खरे रहो ठाढ़े रहो तिमि चक्कवे भारी ।
देव गंधर्व औ किन्नर जच्छ से रोके जे लोकन के अधिकारी ॥
अंतरजामी वे आपुहो जानिहैं मानो, यहै सिख लेहु हमारी ।
द्वारिकानाथ के द्वार गए सब तें पहिले सुधि लैहैं तुम्हारी ॥१०॥

सुदामा—

दीनदयाल को ऐसोई द्वार है दीनन की सुधि लेत
सदाई।
द्रौपदी तें गज तें प्रह्लाद तें जानि परो न बिलंब
लगाई॥
याही तें भावत मो-मन दीनता जौ निबहै निबही जस
आई।
जौ ब्रजराज सों प्रीति नहीं केहि काज सुरेसहु की
ठकुराई॥११॥
प्रीति में चूक न है उनके हरि मो मिलिहैं उठि कंठ
लगायके।
द्वार गए कछु देहैं पै देहैं व द्वारिकानाथ जु हैं सब
लायके॥
या बिधि बीति गए पन द्वै अब तो पहुंचो बिरधापन
आयके।
जीवन केतो है जाके लिए हरि सों अब होहुं कनावड़ो
जायके॥१२॥

स्त्री—

हूजे कनावड़ो बार हजार-लौं जौ हितू दीनदयाल-सो
पाइए।
तीनहुं लोक के ठाकुर हैं तिनके दरबार न जात
लजाइए॥

मेरी कह्यो जिय मैं धरिकै पिय! भूलि न और प्रसंग
चलाइए।
और के द्वार मो द्वार कहा पिय! द्वारिकानाथ के द्वारे
सिधाइए ॥१३॥

सुदामा—

द्वारिका जाहु जू द्वारिका जाहु जू आठहु जाम यहै
झक तेरे।
जौ न कह्यो करिए तो बड़ो दुख जैए कहां अपनी
गति हेरे॥
द्वार खरे प्रभु के छरिया तहं भूपति जान न पावत नेरे।
पांच सुपारी तें देखु बिचारिकै भेंट कौं चारि न चाउर
मेरे ॥१४॥

(दोहा)

यह सुनिकै तब ब्राम्हनो, गई परोसिनि-पास।
पाव-सेर चाउर लिए, आई सहित-हुलास ॥१५॥
सिद्धि करौ गनपति सुमिरि, बांधि दुपटिया-खूंट।
मांगत खात चले तहां, मारग वालो बूट ॥१६॥
प्रात गोमती दरस तें, अति प्रसन्न भो चित्त।
विप्र तहां असनान करि, कीन्हो नित्त-निमित्त ॥१७॥

भाल तिलक घसिकै दियौ, गहो सुमिरनो हाथ।
देखि दिव्य द्वारावती, भयो अनाथ सनाथ ॥१८॥

(कवित्त)

दीठि चकचौंधि गई देखत सुवर्नमई,
एक तें सरस एक द्वारिका के भौन हैं।
पूछे बिन कोऊ कहूं काहू सों न करे बात,
देवता-से बैठे सब साधि-साधि मौन हैं॥
देखत सुदामै धाय पौरजन गहे पाय,
"कृपा करि कहो विप्र कहां कीन्हों गौन है?"
"धीरज अधीर के, हरन पर-पीर के,
बताओ बलबीर के महल यहां कौन हैं?" ॥१८॥

(दोहा)

दीन जानि काहू पुरुष, कर गहि लीन्हों आय।
दीनहि द्वार खरो कियौ, दीनदयाल के जाय ॥२०॥

द्वारपाल द्विज जानि कै, कीन्हों दंडप्रनाम।
"विप्र! कृपा करि भाषिए, सकुल आपनो नाम" ॥२१॥

सुदामा—

नाम सुदामा कृष्ण हम, पढ़े एकई साथ।
कुल पांड़े, ब्रजराज सुनि सकल जानिहैं नाथ ॥२२॥
द्वारपाल चलि तहं गयौ, जहां कृष्ण-जदुराय।
हाथ जोरि ठाढ़ो भयौ, बोल्यो सीस नवाय ॥२३॥

(सवैया)

द्वारपाल—

सीस पगा न झंगा तन मैं प्रभु! जाने को आहि!
बसै केहि ग्रामा।
धोती फटो सो लटो-दुपटो अरु पाय उपानह को
नहिं सामा॥
द्वार खरो द्विज दुर्बल एक रह्यो चकि सो बसुधा
अभिरामा।
पूछत दीनदयाल के धाम बतावत आपनो नाम
सुदामा ॥२४॥

(कवित्त)

बोल्यो द्वारपालक 'सुदामा नाम पांड़े' सुनि,
छोड़े राज-काज ऐसे जी की गति जाने को?
द्वारिका के नाथ हाथ जोरि धाय गहे पांय,
भेंटे लपटाय करि ऐसे दुख-साने को?

नैन दोऊ जल भरि पूंछत कुसल हरि,
  बिप्र बोल्यो 'बिपदा मैं मोहिं पहिचाने को ?
जैसो तुम करो तैसो करै को कृपा के सिन्धु !
  ऐसो प्रीति दीनबन्धु ! दीनन सौं माने को ?' ॥२५॥

(सवैया)

लोचन पूरि रहे जल सों प्रभु दूरि तें देखत ही दुख मेट्यौ।
सोच भयौ सुरनायक के कलपद्रुम के हिय मांझ खखेट्यौ ॥
कंप कुबेर-हिये सरसो, परसे पग जात सुमेरु ससेट्यौ ।
रंक तें राउ भयो तबहीं जबहीं भरि अंक रमापति
  भेंट्यौ ॥२६॥

(दोहा)

भेंटि भली बिधि बिप्र सों, कर गहि त्रिभुवनराय ।
अन्तःपुर को लै गए, जहां न दूजो जाय ॥२७॥
मनिमंडित चौकी कनक, ता ऊपर बैठाय ।
पानी धर्यो परात मैं, पग-धोवन कौं लाय ॥२८॥
राज-रमनि सोरह-सहस, सह-सेवकन स-मीत ।
आठो पटरानी भईं चकित चिते यह प्रीत ॥२९॥
जिनके चरनन को सलिल, हरत जगत-संताप ।
पांय सुदामा बिप्र के, धोवत ते हरि आप ॥३०॥

(सवैया)

ऐसे बेहाल बेवाइन सों पग कंटक जाल लगी पुनि जोए !
'हाय ? महादुख पायो सखा ! तुम आए इते न किते
दिन खोए ॥
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनानिधि
रोए ।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं नैनन के जल सों पग
धोए ॥२१॥

पार्वती मंगल

[तुलसीदास (सं० १५८९—१६८० वि०)—ये हिन्दीके सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इनकी कविताका प्रचार राजमहलसे लेकर गरीबकी झोपड़ी तक है। इतना गौरव किसी कविको नहीं मिला। भाषापर इनका असाधारण अधिकार था। भाव बड़े ही उत्तम हैं। इनकी कवितामें सभी रसोंका समावेश है, पर भक्ति रस प्रधान है। हिन्दी साहित्यके प्रसारमें इनसे जो सहायता मिली है उसके लिये हिन्दी संसार सदा इनका ऋणी रहेगा।]

बिनइ गुरुहि, गुनिगनहि, गिरिहि, गननाथहि ।
हृदय आनि सियराम धरे धनु भाथहि ॥१॥

गावउं, गौरि-गिरीस-विवाह सुहावन।
पापनसावन, पावन, मुनि-मन-भावन २॥
कबितरीति नहिं जानउं, कवि न कहावउं।
शंकर-चरित-सुसरित मनहिं अन्हवावउं ॥३॥
पर अपवाद-विवाद-विदूषित बानिहि।
पावनि करउं सो गाइ भवेस-भवानिहि ॥४॥
जय संवत फागुन, सुदि पांचे, गुरु दिनु।
अस्विनि बिरचेउं मंगल, सुनि सुख छिनु छिनु ॥५॥
गुननिधान हिमवान धरनिधर धुरधनि।
मैना तासु घरनि घर त्रिभुवन तियमनि ॥६॥
कहहु सुकृत केहि भांति सराहिय तिन्ह कर।
लीन्ह जाइ जगजननि जनम जिन्ह के घर ॥७॥
मंगलखानि भवानि प्रगट जब तें भइ।
तब तें ऋधि सिधि संपति गिरिगृह नित नइ ॥८॥
नित नव सकल कल्यान मंगल मोदमय मुनि मानहीं।
ब्रह्मादि सुर नर नाग अति अनुराग भाग वखानहीं॥
पितु, मातु, प्रिय परिवार हरषहिं निरखि पालहिं लालहीं।
सित पाख बाढ़ति चंद्रिका जनु चंद्रभूषन भालहीं ॥९॥
कुंवरि सयानि बिलोकि मातु पितु सोचहिं।
गिरिजा-जोग जुरिहि बर अनुदिन लोचहिं ॥१०॥
एक समय हिमवान भवन नारद गए।
गिरिवर मैना मुदित मुनिहि पूजत भए ॥११॥

उमहिं बोलि ऋषिपगन मातु मेलति भइ ।
मुनिमन कीन्ह प्रनाम, बचन आसिष दइ ॥१२॥
कुंवरि लागि पितु कांध ठाढ़ि भइ सोहइ ।
रूप न जाइ बखानि, जान जोइ जोहइ ॥१३॥
अति सनेह सतिभाय पांय परि पुनि पुनि ।
कह मैना मृदु बचन "सुनिय बिनती, मुनि ! ॥१४॥
तुम त्रिभुवन तिहुंकाल बिचारबिसारद ।
पारबती-अनुरूप कहिय बर, नारद" ॥१५॥
मुनि कह "चौदह भुवन फिरउं जग जहं जहं ।
गिरिवर सुनिय सरहना राउरि तहं तहं ॥१६॥
भूरि भाग तुम सरिस कतहुं कोउ नाहिन ।
कछु न अगम, सब सुगम, भयो बिधि दाहिन ॥१७॥

दाहिन भए बिधि, सुगम सब, सुनि तजहु चित चिंता नई ।
वर प्रथम बिरवा बिरंचि बिरचो मंगला मंगलमई ॥
बिधिलोक चरचा चलति राउरि चतुर चतुरानन कही ।
हिमवानकन्या जोग बर बाउर बिबुध बंदित सही ॥१८॥

मोरेहु मन अस आव मिलिहि बर बाउर" ।
लखि नारद-नारदी उमहिं सुख भा उर ॥१९॥
सुनि सहमि परि पाइं, कहत भए दंपति—
"गिरिजहि लागि हमार जिवन सुख संपति ॥२०॥
नाथ ! कहिय सोइ जतन मिटइ जेहि दूषनु ।"
"दोषदलनु" मुनि कहेउ "बाल बिधुभूषनु ॥२१॥

अवसि होइ सिधि, साहस फलै सुसाधन ।
कोटि कल्पतरु सरिस संभु-अवराधन ॥२२॥
तुम्हरे आस्रम अबहिं ईस तप साधहिं ।
कहिय उमहिं मनु लाइ जाइ अवराधहिं'' ॥२३॥
कहि उपाउ दंपतिहि मुदित मुनिवर गए ।
अति सनेह पितु मातु उमहिं सिखवत भए ॥२४॥
सजि समाज गिरिराज दीन्ह सबु गिरिजहि ।
बदति जननि,''जगदीस जुवति जिनि सिरजहि'' ॥२५॥
जननि-जनक-उपदेस महेसहि सेवहि ।
अति आदर अनुराग भगति मन सेवहि ॥२६॥
सेवहि भगति मन, बचन करम अनन्य गति हरचरन की ।
गौरव सनेहु संकोच सेवा जाइ केहि बिधि बरन की ॥
गुनरूप जोबनसींव सुंदरि निरखि छोभ न हर हिए ।
ते धीर अछत बिकारहेतु जे रहत मनसिज बस किए ॥२७॥
देव देखि भल समउ मनोज बुलायउ ।
कहेउ करिय सुरकाजु, साजु सजि धायउ ॥२८॥
बामदेव सन काम बाम होइ बरतेउ ।
जग-जय-मद निदरेसि हर, पायेसि फर तेउ ॥२९॥
रति पतिहीन मलीन बिलोकि बिसूरति ।
नीलकंठ मृदु सील कृपामय मूरति ॥३०॥
आसुतोष परितोष कीन्ह बर दीन्हेउ ।
सब उदास तजि बास अनत गम कीन्हेउ ॥३१॥

उमा नेहबस बिकल देह सुधि बुधि गइ।
कलपबेलि बन बढ़त बिषम हिम जनु दइ ॥३२॥
समाचार सब सखिन जाइ घर घर कहे।
सुनत मातु पितु परिजन दारुन दुख दहे ॥३३॥
जाइ देखि अति प्रेम उमहिं उर लावहिं।
बिलपहिं बाम बिधातहि दोष लगावहिं ॥३४॥
जो न होहिं मंगलमग सुर बिधि बाधक।
तो अभिमत फल पावहिं करि स्रमु साधक ॥३५॥

साधक कलेस सुनाइ सब गौरिहि निहोरत धाम कों।
को सुनइ काहि सोहाइ घर, चित चहत चंद्रललाम कों॥
समुझाइ सबहिं दृढ़ाइ मन, पितु मातु आयसु पाइ कै।
लागी करन पुनि अगमु तपु, तुलसी कहै किमि गाइ
कै ॥३६॥

फिरेउ मातु पितु परिजन लखि गिरिजापन।
जेहि अनुरागु लागु, चितु, मोइ हितु आपन ॥३७॥
तजेउ भोग जिमि रोग, लोग अहिगन जनु।
मुनि-मनसहु ते अगम तपहि लायउ मनु ॥३८॥
सकुचिं बसन बिभूषन परसत जो बपु।
तेहि सरीर हर-हेतु अरंभेउ बड़ तपु ॥३९॥
पूजहि सिवहि, समय तिहुं करहि निमज्जन।
देखि प्रेम व्रतु नेमु सराहहिं सज्जन ॥४०॥

नींद न भूख पियास, सरिस निसि बासरु ।
नयन नीर, मुख नाम, पुलक तनु, हिय हरु ॥४१॥
कंद मूल फल असन, कबहुं जल पवनहिं ।
सूखि बेल के पात खात दिन गवनहिं ॥४२॥
नाम अपरना भयो परन जब परिहरे ।
नवल धवल कल कीरति सकल भुवन भरे ॥४३॥
देखि सराहहिं गिरजहि मुनिवरु मुनि बहु ।
अस तप सुना न दीख कबहुं काहु कहुं ॥४४॥
काहु न देख्यो कहहिं यह तपु जोगु फल फल चारि का ।
नहिं जानि जाइ, न कहति, चाहति काहि कुधर-
कुमारिका ॥
बटुवेष पेखन पेम पन व्रत नेम ससिसेखर गए ।
मनसहि समरपेउ आपु गिरिजहि, बचन मृदु बोलत
भए ॥४५॥
देखि दसा करुनाकर हर दुख पायउ ।
मोर कठोर सुभाय, हृदय खसि आयउ ॥४६॥
बंस प्रसंसि, मातु पितु कहि सब लायक ।
अमिअ बचन बटु बोलेउ सुनि सुखदायक ॥४७॥
"देवि ! करौं कछु विनय सो बिलगु न मानब ।
कहौं सनेह सुभाय सांच जिय जानब ॥४८॥
जनमि जगत जस प्रगटिहु मातु-पिता कर ।
तीयरतन तुम उपजिहु भव रतनागर ॥४९॥

अ म न कछु जग तुम कहं, मोहिं अस सूझइ ।
वनु कामना कलेस कलेस न बूझइ ॥५०॥
जौ बर लागि करहु तपु तौ लरिकाइय ।
पारस जौ घर मिलै तौ मेरु कि जाइय ? ॥५१॥
रै जान कलेस करिय बिनु काजहि ।
सुधा कि रोगिहि चाहहि, रतन कि राजहि ?" ॥५२॥
लखि न परेउ तपकारन बटु हिय हारेउ ।
सुनि प्रिय वचन सखीमुख गौरि निहारेउ ॥५३॥

गौरी निहारेउ सखीमुख, रुख पाइ तेहि कारन कहा ।
"तप करहि हरहितु" सुनि बिहंसि बटु कहत "मुरुखाई महा ॥
जेहि   न्ह अस उपदेस बरेहु कलेस करि बर बावरो ।
हित लागि कहौं सुभाय सो बड़ बिषम बैरी रावरो ॥५४॥

कहहु काह सुनि रीझिहु बरु अकुलीनहिं ।
अगुन अमान अजाति मातु-पितु-हीनहिं ॥५५॥
भीख मांगि भव खाहिं, चिता नित सोवहिं ।
नाचहिं नगन पिसाच, पिसाचिनि जोवहिं ॥५६॥
भांग धतूर अहार, छार लपटावहिं ।
जोगी, जटिल, सरोष, भोग नहिं भावहिं ॥५७॥
सुमुखि सुलोचनि ! हर मुखपंच, तिलोचन ।
बामदेव फुर नाम, काम-मद मोचन ॥५८॥

एकउ हरहि न बर गुन, कोटिक दूषन।
नरकपाल, गजखाल, व्याल, विष भूषन ॥५८॥
कहं राउर गुन सील सरूप सुहावन।
कहां अमंगल वेषु विशेषु भयावन ॥६०॥
जो सोचहि ससिकलहि सो सोचहि रौरेहि ? ।
कहा मोर मन धरि न वरिय बर बौरेहि ॥६१॥
हिये हेरि हठ तजहु, हठे दुख पैहहु।
व्याह-समय सिख मोरि समुझि पछितैहहु ॥६२॥

पछिताव भूत पिसाच प्रेत जनेत ऐहैं साजि कै।
जमधार सरिस निहारि सब नर नारि चलिहहिं भाजि कै ॥
गजअजिन दिव्य दुकूल जोरत सखी हंसि मुख मोरि कै।
कोउ प्रगट कोउ हिय कहिहिहि 'मिलवत अमिअ माहुर
घोरि कै' ॥६३॥

तुमहिं सहित असवार बसह जब होइहहिं।
निरखि नगर नर नारि बिहंसि मुख गोइहहिं ॥६४॥
बटु करि कोटि कुतर्क जथारुचि बोलइ।
अचल-सुता-मन-अचल बयारि कि डोलइ ? ॥६५॥
सांच सनेह सांचि रुचि जो हठि फेरइ।
सावनसरित सिंधुरुख सूप सों घेरइ ॥६६॥
मनि बिनु फनि, जलहीन मीन तनु त्यागइ।
सो कि दोष गुन गनइ जो जेहि अनुरागइ ॥६७॥

करनकटुक बटु वचन बिसिष सम हिय हए।
अरुन नयन चढ़ि भृकुटि, अधर फरकत भए ॥६८॥
बोली फिरि लखि सखिहि कांपु तनु थरथर।
"आलि ! बिदा करु बटुहि बेगि, बड़ बरबर ॥६९॥
कहुं तिय होहिं सयानि सुनहि सिख राउरि ?।
बौरेहि के अनुराग भइउं बड़ि बाउरि ॥७०॥
दोसनिधान, इसानु सत्य सबु भाषेउ।
मेटि को सकइ सो आंकु जो बिधि लिखि राखेउ ॥७१॥
को करि बादु बिबादु बिषादु बढ़ावइ ?।
मीठ काहु कवि कहहिं जाहि जोइ भावइ ॥७२॥
भइ बड़ि बार आलि कहुं काज सिधारहि।
बकि जनि उठहि बहोरि, कुजुगुति संवारहि ॥७३॥
जनि कहहि कछु बिपरीत जानत प्रीतिरीति न बात की।
सिव-साधु-निंदकु मंद अति जो सुनै सोउ बड़ पातकी" ॥
सुनि बचन सोधि सनेहु तुलसी सांच अबिचल पावनो।
भए प्रगट करुनासिंधु संकर, भाल चंद्र सुहावनो ॥७४॥
सुंदर गौर सरीर भूति भलि सोहइ।
लोचन भाल बिसाल बदनु मनु मोहइ ॥७५॥
सैलकुमारि निहारि मनोहर मूरति।
सजल नयन हिय हरषु पुलक तनु पूरति ॥७६॥
पुनि पुनि कर प्रनाम, न आवत कछु कहि।
"देखौं सपन कि सौंतुख ससिसेखर, सहि !" ॥७७॥

जैसे जनमदरिद्र महामनि पावइ ।
पेखत प्रगट प्रभाउ प्रतीति न आवइ ॥७८॥
सफल मनोरथ भयउ, गौरि सोहइ सुठि ।
घर तें खेलन मनहुं अबहिं आई उठि ॥७९॥
देखि रूप अनुराग महेस भए बस ।
कहत बचन जनु सानि सनेह-सुधा-रस ॥८०॥
"हमहिं आजु लगि कनउड़ काहु न कीन्हेउ ।
पार्वती तप प्रेम मोल मोहिं लीन्हेउ ॥८१॥
अब जो कहहु सो करउं बिलंब न यहि घरि ।"
सुनि महेस मृदु बचन पुलकि पांयन परि ॥८२॥
परि पांय सखिमुख कहि जनायो आप बाप-अधीनता ।
परितोषि गिरिजहि चले बरनत प्रीति नीति प्रवीनता ॥
हर हृदय धरि घर गौरि गवनी, कीन्ह विधि मनभावनो ।
आनंद प्रेम समाज मंगलगान बाजु बधावनो ॥८३॥
सिव सुमिरे मुनि सात आइ सिरनाइन्हि ।
कीन्ह संभु सनमानु जनमफल पाइन्हि ॥८४॥
"सुमिरहिं सुकृत तुम्हहिं जन तेइ सुकृतीबर ।
नाथ जिन्हहिं सुधि करिअ तिन्हहिं सम तेइ, हर !"॥८५॥
सुनि मुनिविनय महेस परम सुख पायउ ।
कथाप्रसंग मुनीसन्ह सकल सुनायउ ॥८६॥
"जाहु हिमाचल-गेह प्रसंग चलायहु ।
जो मन मान तुम्हार तो लगन लिखायहु ॥८७॥

अरुंधती मिलि मैनहि बात चलाइहि ।
नारि कुसल इहि काजु, काजु बनि आइहि" ॥८८॥
"दुलहिनि उमा, ईस बर, साधक ए मुनि ।
बनिहि अवसि यहु काज" गगन भइ अस धुनि ॥८८॥
भयउ अकनि आनंद महेस मुनीसन्ह ।
देहिं सुलोचनि सगुन कलस लिए सीसन्ह ॥९०॥
सिव सों कहे दिन ठाउं बहोरि मिलनु जहं ।
चले मुदित मुनिराज गए गिरिवर पहं ॥९१॥

गिरिगेह गे अति नेह आदर पूजि पहुनाई करी ।
घरबात घरनि समेत कन्या आनि सब आगे धरी ॥
सुख पाइ बात चलाइ सुदिनु सोधाइ गिरिहि सिखाइ कै ।
ऋषि साथ प्रातहि चले प्रमुदित ललित लगन
लिखाइ कै ॥९२॥

बिप्रबृंद सन्मानि पूजि कुलगुरु सुर ।
परेउ निसानहिं घाउ, चाउ चहुं दिसि पुर ॥९३॥
गिरि, बन, सरित, सिंधु, सर सुनइ जो पायउ ।
सब कहं गिरिबर-नायक नेवति पठायउ ॥९४॥
धरि धरि सुंदर बेष चले हरषित हिए ।
कंचन चीर उपहार हार मनिगन लिए ॥९५॥
कहेउ हरषि हिमवान बितान बनावन ।
हरषित लगीं सुवासिनि मंगल गावन ॥९६॥

तोरन कलस चंवर धुज विविध बनाइन्हि ।
हाट पटोरन्हि छाय, सफल तरु लाइन्हि ॥९७॥
गौरी नैहर केहि बिधि कहहु बखानिय ।
जनु ऋतुराज मनोज-राज रजधानिय ॥९८॥
जनु राजधानी मदन की बिरची चतुर बिधि और ही ।
रचना विचित्र बिलोकि लोचन बियक ठौरहि ठौर ही ॥
यहि भांति व्याहु समाजु सजि गिरिराजु मगु जोवन लगे।
तुलसी लगन लै दीन्ह मुनिन्ह महेस आनंद-रंग-मगे ॥९९॥
बेगि बुलाइ विरंचि बंचाइ लगन तब ।
कहेन्हि 'बियाहन चलहु बुलाइ अमर सब' ॥१००॥
बिधि पठए जहं तहं सब सिवगन धावन ।
सुनि हरषहिं सुर कहहिं निसान बजावन ॥१०१॥
रचहिं बिमान बनाइ सगुन पावहिं भले ।
निज निज साजु समाजु साजि सुरगन चले ॥१०२॥
मुदित सकल सिवदूत भूतगन गाजहिं ।
सूकर, महिष, स्वान, खर वाहन साजहिं ॥ १०३॥
नाचहिं नाना रंग, त ंग बढ़ावहिं ।
अज, उलूक, वृक नाद गीत गन गावहिं ॥१०४॥
रमानाथ, सुरनाथ, साथ सब सुरगन ।
आए जहं बिधि संभु देखि हरषे मन ॥१०५॥
मिले हरिहि हर हरषि सुभाखि सुरेसहिं ।
सुर निहारि सनमानेउ, मोद महेसहिं ॥१०६॥

बहु विधि बाहन जान बिमान बिराजहिं।
चली बरात निसानु गहागह बाजहिं ॥१०७॥

बाजहिं निसान, सुगान नभ, चढ़ि बसह बिधुभूषन चले।
बरषहिं सुमन जय जय करहिं सुर, सगुन सुभ मंगल भले॥
तुलसी बराती भूत प्रेत पिसाच पसुपति संग लसे।
गजखाल, व्याल, कपालमाल बिलोकि बर सुर हरि
हंसे ॥१०८॥

बिबुध बोलि हरि कहेउ निकट पुर आयउ।
आपन आपन साज सबहिं बिलगायउ ॥१०९॥
प्रमथनाथ के साथ प्रमथगन राजहिं।
बिबिध भांति मुख, बाहन, बेष बिराजहिं ॥११०॥
कमठ खपर मढ़ि खाल निसान बजावहिं।
नरकपाल जल भरि भरि पियहिं पियावहिं ॥१११॥
बर अनुहरति बरात बनी हरि हंसि कहा।
सुनि हिय हंसत महेस, केलि कौतुक महा ॥११२॥
बड़ बिनोद मग मोद न कछु कहि आवत।
जाइ नगर नियरानि बरात बजावत ॥११३॥
पुर खरभर, उर हरषेउ अचल-अखंडल।
परब उदधि उमगेउ जनु लखि बिधुमंडल ॥११४॥
प्रमुदित गे अगवान बिलोकि बरातहि।
भभरे, बनइ न रहत, न बनइ परातहि ॥११५॥

चले भाजि गज बाजि फिरहिं नहिं फेरत ।
बालक भभरि भुलान फिरहिं घर हेरत ॥११६॥
दीन्ह जाइ जनवास सुपास किए सब ।
घर घर बालक बात कहन लागे तब ॥११७॥
"प्रेत बेताल बराती, भूत भयानक ।
बरद चढ़ा बर बाउर, सबइ सुबानक ॥११८॥
कुसल करइ करतार कहहिं हम सांचिय ।
देखब कोटि बियाह जियत जो बांचिय" ॥११९॥
समाचार सुनि सोचु भयउ मन मैनहिं ।
नारद के उपदेस कवन घर गे नहिं ? ॥१२०॥

घरघाल चालक कलहप्रिय कहियत परम परमारथी ।
तैसी बरेखी कीन्हि पुनि मुनिसात स्वारथ सारथी ॥
उर लाइ उमहिं अनेक बिधि, जलपति जननि दुख मानइ ।
हिमवान कहेउ "ईसान महिमा अगम, निगम न जानई ॥१२१॥

सुनि मैना भइ सुमन, सखी देखन चली ।
जहं तहं चरचा चलइ हाट चौहट गली ॥१२२॥
श्रीपति, सुरपति, बिबुध बात सब सुनि सुनि ।
हंसहिं कमलकर जोरि, मोरि सुख पुनि पुनि ॥१२३॥
लखि लौकिक गति संभु जानि बड़ सोहर ।
भए सुंदर सतकोटि मनोज मनोहर ॥१२४॥

नील निचोल छाल भइ, फनि मनिभूषन ।
रोम रोम पर उदित रूपमय पूषन ॥१२५॥
गन भए मंगलवेष मदन-मनमोहन ।
सुनत चले हिय हरषि नारि नर जोहन ॥१२६॥
संभु सरद राकेस, नखतगन सुरगन ।
जनु चकोर चहुं ओर बिराजहिं पुरजन ॥१२७॥
गिरिबर पठए बोलि लगन बेरा भई ।
मंगल अरघ पांवड़े देत चले लई ॥१२८॥
होहिं सुमंगल सगुन, सुमन बरषहिं सुर ।
गहगहे गान निसान मोद मंगल पुर ॥१२९॥
पहिलिहि पंवरि सुसामध भा सुखदायक ।
इत बिधि उत हिमवान सरिस सब लायक ॥१३०॥
मनि चामीकर चारु थार सजि आरति ।
रति सिहाहिं लखि रूप, गान सुनि भारति ॥१३१॥
भरी भाग अनुराग पुलकतनु मुदमन ।
मदनमत्त गजगवनि चलीं बर परिछन ॥१३२॥
बर बिलोकि बिधुगौर सु अंग उजागर ।
करति आरती सासु मगन सुखसागर ॥१३३॥
सुखसिंधुमगन उतारि आरति करि निछावरि निरखि कै ।
मगु अरघ बसन प्रसून भरि लेइ चली मंडप हरषि कै ॥
हिमवान दीन्हेउ उचित आसन सकल सुर सनमानि कै ।
तेहि समय साज समाज सब राखे सुमंडपु आनि कै ॥१३४॥

अरघ देइ मनिआसन बर बैठायउ।
पूजि कीन्ह मधुपर्क, अमी अंचवायउ ॥१३५॥
सपत ऋषिन्ह विधि कहेउ, बिलंब न लाइय।
लगन बेर भइ बेगि बिधान बनाइय ॥१३६॥
थापि अनल हरबरहि बसन पहिरायउ।
आनहु दुलहिनि बेगि समउ अब आयउ ॥१३७॥
सखी सुवासिनि संग गौरि सुठि सोहति।
प्रगट रूपमय मूरति जनु जग मोहति ॥१३८॥
भूषन बसन समय सम सोभा सो भली।
सुखमा बेलि नवल जनु रूपफलनि फली ॥१३९॥
कहहु काहि पटतरिय गौरि गुनरूपहि।
सिंधु कहिय केहि भांति सरिस सर कूपहि ॥१४०॥
आवत उमहिं बिलोकि सीस सुर नावहिं।
भये कृतारथ जनम जानि सुख पावहिं ॥१४१॥
बिप्र वेद धुनि करहिं सुभासिष कहि कहि।
गान निसान सुमन झरि अवसर लहि लहि ॥१४२॥
बर दुलहिनिहि बिलोकि सकल मन रहसहिं।
साखोचार समय सब सुर मुनि बिहंसहिं ॥१४३॥
लोक-वेद-विधि कीन्ह लीन्ह जल कुस कर।
कन्यादान संकलप कीन्ह धरनिधर ॥१४४॥
पूजे कुलगुरु देव, कलस सिल सुभ धरी।
लावा होम विधान बहुरि भांवरि परी ॥१४५॥

बंदन बंदि, ग्रंथिविधि करि, ध्रुव देखेउ।
भा बिवाह सब कहहिं जनमफल पेखेउ ॥१४६॥
पेखेउ जनमफल भा बियाह, उछाह उमगहिं दस दिसा।
नीसान गान प्रसून झरि तुलसी सुहावनि सो निसा॥
दाइज बसन मनि धेनु धनु हय गय सुसेवक सेवकी।
दीन्हीं मुदित गिरिराज जे गिरिजहि पियारी पेव की ॥१४७॥
बहुरि बराती मुदित चले जनवासहि।
दूलह दुलहिनि गे तब हास-अवासहि ॥१४८॥
रोकि द्वार मैना तब कौतुक कीन्हेउ।
करि लहकौरि गौरि हर बड़ सुख दीन्हेउ ॥१४९॥
जुआ खेलावत गारि देहिं गिरिनारिहि।
अपनी ओर निहारि प्रमोद पुरारिहि ॥१५०॥
सखी सुवासिनि, सासु पाउ सुख सब बिधि।
जनवासहि बर चलेउ सकल मंगलनिधि ॥१५१॥
भइ जेवनार बहोरि बुलाइ सकल सुर।
बैठाए गिरिराज धरम-धरनी-धुर ॥१५२॥
परुसन लगे सुवार, बिबुध जन सेवहिं।
देहिं गारि बर नारि मोद मन भेवहिं ॥१५३॥
करहिं सुमंगल गान सुघर सहनाइन्ह।
जेइँ चले हरि दुहिन सहित सुर भाइन्ह ॥१५४॥
भूधर भोर बिदा करि साज सजायउ।
चले देव सजि जान निसान बजायउ ॥१५५॥

सनमाने सुर सकल दीन्ह पहिरावनि ।
कीन्हि बड़ाई बिनय सनेह-सुहावनि ॥१५६॥
गहि सिवपद कह सासु बिनय मृदु मानबि ।
गौरि-सजीवनि मूरि मोरि जिय जानबि ॥१५७॥
भेंटि बिदा करि बहुरि भेंटि पहुंचावहिं ।
हुंकरि हुंकरि सु लवाइ धेनु जनु धावहिं ॥१५८॥
उमा मातुमुख निरखि नयन जल मोचहिं ।
'नारि जनमु जग जाय' सखी कहि सोचहिं ॥१५९॥
भेंटि उमहिं गिरिराज सहित सुत परिजन ।
बहु समुझाइ बुझाइ फिरे बिलखित मन ॥१६०॥
संकर गौरि समेत गए कैलासहि ।
नाइ नाइ सिर देव चले निज बासहि ॥१६१॥
उमा महेस बियाह-उछाह भुवन भरे ।
सबके सकल मनोरथ बिधि पूरन करे ॥१६२॥
प्रेमपाट पटडोरि गौरि-हर-गुन मनि ।
मंगल हार रचेउ कवि मति मृगलोचनि ॥१६३॥
मृगनयनि बिधुबदनी रचेउ मनि मंजु मंगल हार सो ।
उर धरहु जुबती जन बिलोकि तिलोक सोभा-सार सो ॥
कल्यान काज उछाह ब्याह सनेह सहित जो गाइहैं ।
तुलसी उमा-संकर-प्रसाद प्रमोद मन प्रिय पाइहैं ॥१६४॥

———

वृन्द

वृन्द (सं० १७२०—१८०० वि०)—ये कृष्णगढ़के महाराज राजसिंहके गुरु थे। इनकी भावपूर्ण कविता सुनकर लोग इनका बड़ा आदर करने लगे थे। इनके दोहे नीति-संबंधी हैं। इनकी 'सतसई' बहुत प्रसिद्ध है।]

नीकी पै फीकी लगै, बिन अवसर की बात।
जैसे बरनत युद्ध में, रस शृङ्गार न सुहात॥१॥
फीकी पै नीकी लगै, कहिये समय बिचारि।
सब को मन हर्षित करै, ज्यौं विवाह मैं गारि॥२॥
जो जाको गुन जानही, सो तिहिं आदर देत।
कोकिल अंबहि लेत है, काग निबौरी हेत॥३॥
जाही ते कछु पाइये, करिये ताकी आस।
रीते सरवर पै गये, कैसे बुझत पियास॥४॥
गुन ही तऊ मंगाइये, जो जीवन सुख भौन।
आग जरावत नगर तऊ, आग न आनत कौन॥५॥
रस अनरस समझै न कछु, पढ़ै प्रेम की गाथ।
बीछू मन्त्र न जानहीं, सांप पिटारे हाथ॥६॥
कैसे निबहै निबल जन, कर सबलन सों गैर।
जैसे बस सागर विषै, करत मगर सों बैर॥७॥
दीबो अवसर को भलो, जासों सुधरै काम।
खेती सूखे बरसिबो, घन को कौनै काम॥८॥

अपनो पहुंच विचारि कै, करतब करिये दौर।
तेते पांव पसारिये, जेतो लांबो सौर ॥९॥
पिसुन छल्यो नर सुजन सौं, करत बिसास न चूकि।
जैसे दाध्यो दूध को, पीवत छांछहि फूंकि ॥१०॥
विद्याधन उद्यम बिना, कहो जु पावै कौन।
बिना डुलाये ना मिले, ज्यों पंखा को पौन ॥११॥
ओछे नर की प्रीति की, दीनी रीति बताय।
जैसे छीलर ताल जल, घटत घटत घट जाय ॥१२॥
बुरे लगत सिख के बचन, हिये विचारो आप।
करुवी भेषज बिन पिये, मिटै न तन की ताप ॥१३॥
गुरुता लघुता पुरुष की, आश्रय वशतं होय।
करी बृंद में विंध्य सौं, दर्पन में लघु सोय ॥१४॥
रहे समीप बड़ेन के, होत बड़ो हित मेल।
सबही जानत बढ़त है, वृच्छ बराबर बेल ॥१५॥
फेर न ह्वै है कपट सौं, जो कीजे व्यौपार।
जैसे हांड़ो काठ की, चढ़ै न दूजो बार ॥१६॥
करिये सुख को होत दुख, यह कहो कौन सयान।
वा सोने को जारिये, जासों टूटे कान ॥१७॥
नयना देत बताय सब, हिय को हेत अहेत।
जैसे निर्मल आरसी, भली बुरी कहि देत ॥१८॥
अति परचे ते होत है, अरुचि अनादर भाय।
मलयगिरि की भीलनी, चंदन देति जराय ॥१९॥

भले बुरे सब एक सों, जौ लौं बोलत नाहिं।
जानि परतु हैं काक पिक, ऋतु बसंत के माहिं ॥२०॥
हितहू को कहिये न तिहि, जो नर होय अबोध।
ज्यों नकटे को आरसी, होत दिखाये क्रोध ॥२१॥
सबे सहायक सबल के, कोउ न निबल सहाय।
पवन जगावत आग को, दीपहिं देत बुझाय ॥२२॥
कछु बसाय नहिं सबलसों, करे निबल पर जोर।
चले न अचल उखार तरु, डारत पवन झकोर ॥२३॥
रोष मिटे कैसे कहत, रिस उपजावन बात।
ईंधन डारे आगमां, कैसे आग बुझात ॥२४॥
जो जेहि भावे सो भलो, गुन को कछु न विचार।
तज गजमुकता भोलनो, पहिरति गुंजा हार ॥२५॥
दुष्ट न छांड़े दुष्टता, कैसे हूं सुख देत।
धोये हूं सौ बेर के, काजर होत न सेत ॥२६॥
जाको जैसो उचित तिहिं, करिये सोइ बिचारि।
गोदर कैसे ल्याइ है, गजमुक्ता गज मारि ॥२७॥
जैसे बंधन प्रेम को, तैसो बंध न और।
काठहि भेदे कमल को, छेद न निकरे भौंर ॥२८॥
जे चेतन ते क्यों तजें, जाको जासों मोह।
चुंबक के पीछे लग्यो, फिरत अचेतन लोह ॥२९॥
जो पावे अति उच्च पद, ताको पतन निदान।
ज्यों तपि तपि मध्याह्नलों, अस्त होतु है भान ॥३०॥

जिहि प्रसंग दूषन लगै, तजिये ताको साथ।
मदिरा मानत है जगत, दूध कलाली हाथ ॥३१॥
जाके संग दूषण दुरे, करिये तिहि पहिचानि।
जैसे समझै दूध सब, सुरा अहोरो पानि ॥३२॥
मूरख गुन समझै नहीं, तौ न गुनो में चूक।
कहा घट्यो दिन को विभौ, देखे जो न उलूक ॥३३॥
करै बुराई सुख चहै, कैसे पावै कोइ।
रोपै बिरवा आक को, आम कहां ते होइ ॥३४॥
बहुत निबल मिल बल करैं, करैं जु चाहैं सोय।
तिनकन को रसरो करो, करो निबन्धन होय ॥३५॥
सांच झूठ निर्णय करै, नीति निपुन जो होय।
राजहंस बिन को करै, छीर नीर को दोय ॥३६॥
दोषहिं को उमहै गहै, गुन न गहै खललोक।
पियै रुधिर पय ना पियै, लागि पयोधर जोंक ॥३७॥
कारज धीरे होतु है, काहे होत अधीर।
समय पाय तरुवर फलै, केतक सींचो नीर ॥३८॥
क्यों कीजै ऐसो जतन, जाते काज न होय।
परबत पर खोदै कुआ, कैसे निकसे तोय ॥३९॥
बीर पराक्रम ना करै, तासों डरत न कोइ।
बालकहू को चित्र को, बाघ खिलौना होइ ॥४०॥
उत्तम जन सों मिलत ही, अवगुन सो गुन होय।
घनसंग खारो उदधि मिल, बरसे मीठो तोय ॥४१॥

करत करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात तें, सिल पर परत निसान ॥४२॥
भलो करत लागति बिलम, बिलम न बुरे बिचार।
भवन बनावत दिन लगे, ढाहत लगत न बार ॥४३॥
कुल सपूत जान्यो परे, लखि सुभ लच्छन गात।
होनहार बिरवान के, होत चीकने पात ॥४४॥
छोटे मन में आय हैं, कैसे मोटी बात।
छेरी के मुंह में दियो, ज्यों पेठा न समात ॥४५॥
होत निबाह न आपनो, लीने फिरे समाज।
चूहा बिल न समात है, पूंछ बांधिये छाज ॥४६॥
कछु कहि नीच न छेड़िये, भलो न वाको सङ्ग।
पाथर डारे कीच में, उछरि बिगारे अङ्ग ॥४७॥
ऊपर दरसे सुमिल सो, अन्तर अनमिल आंक।
कपटी जन की प्रीति है, खीरा की सी फांक ॥४८॥
सब सों आगे होय के, कबहुं न करिये बात।
सुधरे काज समाज फल, बिगरे गारी खात ॥४९॥
बुरो तऊ लागत भलो, भलो ठौर पर लोन।
तिय नैननि नीको लगी, काजर जदपि मलोन ॥५०॥
छमा खड्ग लीने रहै, खल को कहा बसाय।
अगिन परो तृनरहित थल, आपहि ते बुझि जाय ॥५१॥
ओछे नर के पेट में, रहै न मोटी बात।
आध सेर के पात्र में, कैसे सेर समात ॥५२॥

बचन रचन कापुरुष के, कहि न छिन ठहराय।
ज्यों कर पद सुख कछुप के, निकसि निकसि दुर जाय ॥५३॥
जूवा खेले होतु है, सुख सम्पति को नास।
राजकाज नल ते छुट्यो, पांडव किय बनवास ॥५४॥
सरस्वति के भंडार को, बड़ो अपूरब बात।
ज्यों खरचे त्यों त्यों बढ़े, बिन खरचे घटि जात ॥५५॥
बिरह पीर व्याकुल भए, आयो पीतम गेह।
जैसे आवत भाग ते, आग लगे पर मेह ॥५६॥
भले बंस को पुरुष सो, निहुरे बहु धन पाय।
नवे धनुष सद्‌बंस को, जिहिं है कोटि दिखाय ॥५७॥
लोकन के अपवाद को, डर करिये दिनरैन।
रघुपति सीता परिहरी, सुनत रजक के बैन ॥५८॥
कहा कहों विधि को अविधि, भूले परे प्रवीन।
मूरख को सम्पति दई, पंडित संपतिहीन ॥५९॥
वह संपति केहि काम की, जिन काहू पै होउ।
नित्य कमावे कष्ट करि, बिलसे औरहि कोउ ॥६०॥
तृनहुं ते अरु तूलते, हरुवो याचक आहि।
जानतु है कछु मांगि है, पवन उड़ावत नाहिं।६१॥
सेइय नृप गुरु तिय अनिल, मध्य भाग जग माहिं।
है विनाश अति निकट तें, दूर रहे फल नाहिं ॥६२॥

नीति-सामयिक उपदेश

कुण्डलियां

[गिरिधर कविराय (सं० १७७०—लगभग १८४४ वि०)—इनकी कुंडलियां बहुत प्रसिद्ध हैं। प्राय: सभी नीति-विषयक हैं तथा बड़ी ही लोकप्रिय हैं। इनकी कविताकी भाषा सरल और स्पष्ट है। इनकी भाषासे इनका जन्मस्थान कहीं अवधमें होनेका अनुमान किया जाता है, पर इनके जीवनके विषयमें कुछ भी नहीं जाना जाता। कहा जाता है कि राजासे रुष्ट होकर ये उनके राज्यमें न रहने की इच्छासे अपना घरद्वार छोड़ भ्रमण करने लगे। उसी भ्रमणकी समय कुंडलियोंकी रचना की। कहते हैं कि स्त्री-पुरुषने मिलकर रचना की थी और जिन कुंडलियोंके प्रारम्भमें 'साईं" शब्द है, वे सब गिरिधरकी स्त्रीकी रची हुई हैं।]

बैरी बंधुआ बानियां, ज्वारी चोर लबार।
व्यभिचारी रोगी ऋणी, नगरनारि को यार॥
नगरनारि को यार, भूलि परतीति न कीजे।
सौ सौ सौंहैं खाय,चित्त एको नहिं दीजे॥
कह गिरिधर कविराय, घरे आवे अनबैरी।
हितको कहै बनाय, जानिये पूरो बैरी॥ १॥

बिना बिचारे जो करै, सो पाछे पछिताय।
काम बिगारे आपनो, जग में होत हंसाय॥

जग में होत हंसाय, चित्त में चैन न पावै।
खान पान सनमान, राग रंग मनहिं न भावै॥
कह गिरिधर कविराय, दुःख कछु टरत न टारे।
खटकत है जिय माहिं, कियो जो बिना विचारे॥२॥

बीती ताहि बिसारिदे, आगे की सुधि लेउ।
जो बनि आवै सहज में, ताही में चित देउ॥
ताही में चित देउ, बात ज्योंहीं बनि आवै।
दुर्जन हंसै न कोय, चित्त में खेद न पावै॥
कह गिरिधर कविराय, यही कर मन परतीती।
आगे को सुख होय, समझ बीती सो बीती॥ ३॥

साईं ये न विरुद्धिये, गुरु पण्डित कवि यार।
बेटा वनिता पौरिया, यज्ञ करावनहार॥
यज्ञ करावनहार, राजमंत्री जो होई।
विप्र परोसी बैद, आपकी तपै रसोई॥
कह गिरिधर कविराय, यहै कैसो समुझाई।
इन तेरह ते तरह, दिये बनि आवै साईं॥४॥

साईं अपने चित्त की, भूल न कहिये कोय।
तब लग मन में राखिये, जब लग कारज होय॥
जब लग कारज होय, भूल कबहुं नहिं कहिये।
दुर्जन तातो होय, आप सीरे ह्वै रहिये॥

कह गिरिधर कविराय, बात चतुरन के ताईं ।
करतूती कहि देत, आप कहिये नहिं साईं ॥५॥

चिंताज्वाल शरीरबन, दावा लगि लगि जाय ।
प्रकट धुवां नहिं देखिये, उर अन्तर धुंधुवाय ॥
उर अंतर धुंधुवाय, जर ज्यों कांच को भट्ठो ।
जर गयो लोहु मांस, रह गई हाड़ को ठट्ठो ॥
कह गिरिधर कविराय, सुनो रे मेरे मिंता ।
वे नर कैसे जियें, जाहि तन व्यापत चिंता ॥६॥

राजा के दरबार में, जैये समयो पाय ।
साईं तहां न बैठिये, जहं कोउ देय उठाय ॥
जहं कोउ देय उठाय, बोल अनबोले रहिये ।
हंसिये ना हंहराय, बात पूंछेते कहिये ॥
कह गिरिधर कविराय, समय सों कीजे काजा ।
अति आतुर नहिं होय, बहुरि अनखे हैं राजा ॥७॥

कृतघन कबहुं न मानहीं, कोटि करो जो कोय ।
सर्बस आगे राखिये, तऊ न अपनो होय ॥
तऊ न अपनो होय, भले को भलो न माने ।
काम काढ़ि चुप रहै, फिर तेहि नाहिं पिछाने ॥
कह गिरिधर कविराय, रहत नितही निर्भय मन ।
मित्र शत्रु सब एक, दाम के लालच कृतघन ॥८॥

जाको धन धरती लई, ताहि न लीजे संग।
जो संग राखे ही बने, तो करि राख अपंग॥
तो करि राख अपंग, फेरि फरके सो न कीजे।
कपट रूप बतराय, ताहि को मनहर लीजे॥
कह गिरिधर कविराय, खटक जैहै नहिं ताको।
कोटि दिलासा देउ, लई धन धरती जाको॥८॥

साईं अपने भ्रात को, कबहुं न दीजे त्रास।
पलक दूर नहिं कीजिये, सदा राखिये पास॥
सदा राखिये पास, त्रास कबहुं नहिं दीजे।
त्रास दियो लंकेश, तासु की गति सुनि लीजे॥
कह गिरिधर कविराय, राम सों मिलियो आई।
पाय विभीषण राज, लंकपति बाज्यो साईं॥१०॥

साईं बेटा बाप के, बिगरे भयो अकाज।
हरिनाकुश अरु कंस को, गयो दुहुन को राज॥
गयो दुहुन को राज, बाप बेटा के बिगरे।
दुसमन दावादार, भये महिमण्डल सिगरे॥
कह गिरिधर कविराय, उन्हें काहू न बताई।
पिता पुत्र की रारि, लाभ एको नहिं साईं॥११॥

साईं नदी समुद्र को, मिली बड़पनो जानि।
जातिनाश भयो मिलतही, मान महत का हानि॥

मान महतको हानि, कहो अब कैसे कीजे।
जल खारी ह्वै गयो, ताहि अब कसे पीजे॥
कह गिरिधर कविराय, कच्छमच्छन सकुचाई।
बड़ो फजीहतचार, भयो नदियन को साईं ॥१२॥

साईं सन अरु दुष्ट जन, इनको यही सुभाव।
खाल खिंचावैं आपनी, परबन्धन के दाव॥
परबन्धन के दाव, खाल अपनी खिंचवावैं।
मुण्ड काटि कै कुटिय, तऊ पर बाज न आवैं॥
कह गिरिधर कविराय, जरै अपनी कुटिलाई।
जल में गिरि सड़ गये, तऊ कौड़ी न खुटाई ॥१३॥

साईं समय न चूकिये, यथाशक्ति सनुमान।
को जानै को आइहै, तेरी पौरि प्रमान॥
तेरो पौरि प्रमान, समय असमय तकि आवै।
ताको तू मत खोल, अंक भरि कण्ठ लगावै॥
कह गिरिधर कविराय, सबै यामें सधिआई।
शीतल जल फल फूल, समय जिन चूको साईं ॥१४॥

साईं हरि ऐसी करी, बलि के द्वारे जाय।
पहिले हाथ पसारिकै, बहुरि पसारे पाय॥
बहुरि पसारे पाय, मनो राजा न बतायो।
भूमि सबै हरि लई, बांधि पाताल पठायो॥

कह गिरिधर कविराय, राव राजन के ताईं।
छल बल करि परभूमि, लेत को हमरो साईं ॥१५॥

हीरा अपनो खानि को, मन ही मन पछिताय।
गुन कीमत जानो नहीं, तहां बिकान्यो आय ॥
तहां बिकान्यो आय, छेदि करहां सों बांध्यो।
मीठो लगे न मांस, लोन बिन फूहर रांध्यो ॥
कह गिरिधर कविराय, धरों कैसे कै धीरा।
गुन कीमत घटि गई, यहै कहि रोयो हीरा ॥१६॥

साईं अगर उजार में, जरत महा पछिताय।
गुनग्राहक कोऊ नहीं, जाहि सुवास सुहाय ॥
जाहि सुवास सुहाय, सुने बनमें कोउ नाहीं।
के गीदड़ के हिरन, सुतो कछु जानत नाहीं ॥
कह गिरिधर कविराय, बड़ो दुख यहै गुसाईं।
अगर आक को राख, भई मिलि एकै साईं ॥१७॥

साईं हंस न आवहीं, बिन जल सरवर पास।
निरफल तरवर ते डरैं, पच्छी पथिक उदास ॥
पच्छी पथिक उदास, छांह विश्राम न पावें।
जहं न प्रफुल्लित कमल, भ्रमर तहं भूलि न आवें ॥
कह गिरिधर कविराय, जहां यह बूझ बड़ाई।
तहां न करिये सांझ, प्रातही चलिये साईं ॥१८॥

साईं एकै गिरि धरै, गिरिधर गिरिधर होय।
हनूमान बहु गिरि धरै, गिरिधर कहै न कोय॥
गिरिधर कहै न कोय, हनू धवलागिरि लायो।
ताको कनिका टूटि, पर्‌यो सो कृष्ण उठायो॥
कह गिरिधर कविराय, बड़न की बड़ो बड़ाई।
थोरेहो जस होय, जसो पुरुषन को साईं॥१८॥

महुआ नित उठ दाख सों, करत मसहलत आय।
हम तुम सूखे एक से, इज़्ज़त हैं रसराय॥
इज़्ज़त हैं रसराय, बिलग जिन याको मानो।
मधुर मिष्ट हम अधिक, कछू जिन जिय में जानो॥
कह गिरिधर कविराय, कहत साहिब सों रहुआ।
तुम नीचो कुल बेलि, वृच्छ हम ऊंचे महुआ॥२०॥

बगुला झपटत बाज पे, बाज रहै सिर नाय।
कुलहा दोन्हें पग बंधे, खोंटि दे फहराय॥
खोंटि दे फहराय, कहै जो जो मन आवै।
कुलहा ले पग छोरि, धनी बिन कौन छुड़ावै॥
कह गिरिधर कविराय, अरे तू सुन खग बगुला।
समयो पलट्यो जान, बाज पै झपटै बगुला॥२१॥

कौआ कहत मराल सों, कौन जाति को गोत।
तो सों बदरूपी महा, कोउ न जग में होत॥

कोउ न जग में होत, कुटिल मैले मलखाने ।
उसर बैठ मर्य्याद, भ्रष्ट आचार न जाने ॥
कह गिरिधर कविराय, कहां ते आयो होआ ।
धन्य हमारो देश, जहां सज्जन जन कौआ ॥२२॥

साईं घोड़न के अछत, गदहन पायो राज ।
काआ लीजे हाथ में, दूर कीजिये बाज ॥
दूर कीजिये बाज, राज ऐसोहो आयो ।
सिंह कैद में कियो, स्यार गजराज चढ़ायो ॥
कह गिरिधर कविराय, जहां यह बूझ बड़ाई ।
तहां न कीजे सांझ, सवेरहिं चलिये साईं ॥२३॥

भौंरा ये दिन कठिन हैं, दुख सुख सहो शरीर ।
जब लग फूले केतकी, तब लगि बिरम करीर ॥
तब लगि बिरम करीर, हर्ष मन में नहिं कीजे ।
जैसी बहै बयार, पीठ तब तैसो दीजे ॥
कह गिरिधर कविराय, होय जिन जिन में बौरा ।
सहै दुःख अरु सुख, एक सज्जन अरु भौंरा ॥२४॥

पानी बाढ़्यो नाव में, घर में बाढ़्यो दाम ।
दोउ हाथ उलीचिये, यही सयानो काम ॥
यही सयानो काम, नाम ईश्वर को लीजे ।
पर स्वारथ के काज, सीस आगे धरि दीजे ॥

कह गिरिधर कविराय, बड़ेन की याही बानी ।
चलिये चाल सुचाल, राखिये अपनो पानी ॥२५॥

गुन के गाहक सहस नर, बिनु गुन लहै न कोय ।
जैसे कागा कोकिला, शब्द सुनै सब कोय ॥
शब्द सुनै सब कोय, कोकिला सबै सुहावन ।
दोऊ को इक रंग, काग सब भये अपावन ॥
कह गिरिधर कविराय, सुनो हो ठाकुर मन के ।
बिनु गुन लहै न कोय, सहस नर गाहक गुन के ॥२६॥

दौलत पाय न कीजिए, सपने में अभिमान ।
चंचल जल दिन चारि को, ठांउ न रहत निदान ॥
ठांउ न रहत निदान, जियत जग में जस लीजे ।
मीठे वचन सुनाय, विनय सबही की कीजे ॥
कह गिरिधर कविराय, अरे यह सब घट तौलत ।
पाहुन निसि दिन चारि, रहत सबही के दौलत ॥२७॥

साईं ऐसे पुत्र से, बांझ रहै बरु नारि ।
बिगरो बेटे बाप से, जाय रहै ससुरारि ॥
जाय रहै ससुरारि, नारि के नाम बिकाने ।
कुल के धर्म नसायं, और परिवार नसाने ॥
कह गिरिधर कविराय, मातु झांखै वहि ठाईं ।
अस पुत्रनि नहिं होयं, बांझ रहतिउ बरु साईं ॥२८॥

साईं या संसार में, मतलब को व्यौहार।
जब लगि पैसा गाँठि में, तब लगि ताको यार॥
तब लगि ताको यार, यार संगहो संग डोलै।
पैसा रहा न पास, यार मुख से नहिं बोलै॥
कह गिरिधर कविराय, जगत यह लेखा भाई।
करत बेगरजी प्रीति, यार बिरला कोइ साईं॥२८॥

साईं अवसर के पड़े, को न सहै दुख द्वन्द।
जाय बिकाने डोम घर, वै राजा हरिचन्द॥
वै राजा हरिचन्द, करै मरघट रखवारी।
धरे तपस्वी वेष, फिरै अर्जुन बलधारी॥
कह गिरिधर कविराय, तपै वह भीम रसोई।
को न करै घटि काम, परे अवसर के साईं॥३०॥

गंगा-गुण-गान

[पदमाकर भट्ट (सं० १८१०—१८९० वि०)—ये तैलंग ब्राह्मण और संस्कृत तथा प्राकृतके अच्छे पंडित थे। रीतिकाव्यके कवियोंमें इनका स्थान बहुत ऊंचा है। ये व्रजभाषाके अंतिम रसिक कवि थे ऐसा कहा जाय तो अनुचित न होगा। इनके बाद व्रजभाषाकी कविताकी मर्य्यादा घटने लगी। अपनी विलक्षण प्रतिभा दिखाकर कई राजदरबारोंमें इन्होंने बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। इनके रचे हुए 'जगद्विनोद', 'गङ्गालहरी', 'भाषा हितोपदेश' आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। कविता लिखकर इन्होंने बहुत धन पाया था। इनकी कविताकी भाषा सरस तथा सुव्यवस्थित है। रचना-शैली भी अति उत्तम है। अनुप्रासका आनन्द तो खूबही मिलता है।]

कवित्त

कूरम पै कोल, कोलहु पै शेष-कुण्डलो है,
कुण्डलो पै फबी फैल सुफन हजार की।
कहै पदमाकर त्यों फन पै फबी है भूमि,
भूमि पै फबी है थिति रजत-पहार की॥
रजत-पहार पर संभु सुरनायक हैं,
संभु पर जोति जटा-जूट है अपार को।
जोति जटा-जूटन पै चंद की छुटी है छटा,
चंद की छटान पै छटा है गंग धार की॥१॥

जैसे तैं न मोको कहूं नेकहु डरात हुतो,
ऐसे अब तो सों होंहूं नेकहू न डरिहों।
कहै पदमाकर प्रचंड जो परैगो तो
उमंडि करि तोसों भुजदंड ठोंकि लरिहों॥
चलो चलु, चलो चलु, बिचलि न बीच ही तें,
कीच-बीच नीच, तो कुटुम्ब कों कचरिहों।
परे दगादार मेरे पातक अपार, तोहि,
गंगा को कछार पै पछार छार करिहों॥२॥

आयो जौन तेरी धौरी धारा में धसत जात,
तिनको न होत सुरपुर ते निपात है।
कहै पदमाकर तिहारो नाम जाके मुख,
ताके मुख अमृत को पुंज सरसात है॥
तेरो तोय छ्वै कै औ छुवत तन जाको बात,
तिनको चलै न जमलोकन में बात है।
जहां-जहां मैया, तेरी धूरि उड़ि जाति गंगा,
तहां-तहां पापन की धूरि उड़ि जात है॥३॥

कलि के कलंकी क्रूर कुटिल कुराही केते,
तरिगे तुरंत तबै लीन्हीं रेनु राह जब।
कहै पदमाकर प्रयास बिन पावै सिद्धि,
मानत न कोऊ जमदूतन की दाह दब॥

कागद करम करतूति के उठाइ धरे,
पचि-पचि पेच में परे हैं प्रेत-नाह अब।
बेपरद बेदरद गजब गुनाहिन के,
गंगा की गरद कीन्हें गरद गुनाह सब ॥४॥

तेरे तीर जौलों एक लहर निहारियत,
तौलों कैयो लच्छ-लच्छ लहरन धारतो।
कहै पदमाकर चहो जो बरदान तौलों,
कैयो बरदानन के गान अनुसारतो॥
जौलों लग्यो काहू सों कहन कला एक तुव,
तौलों कैयो कला के समूहन सम्हारतो।
जौलों एक तारे को ह्वै रचत कवित्त गंगे,
तौलों तुम केतिक करोर तारि डारतो ॥५॥

पापन की पांति महामंद सुख मैलो भई,
दीपति दुचंद फैलो धरम-समाज को।
कहै पदमाकर त्यों रोगन की राह परो,
दाह परो दुखन में, गाह अति गाज को॥
जा दिन तें भूमि पे भगीरथ ने आनी जग,
जानी गंगधारा या अपारा सब काज की।
ता दिन तें जानो सो बिकानो बिललानो सो,
बिलानो सो दिखानो राजधानो जमराज को॥६॥

एक महा पातकी सुगात की दसा विलोकि,
देत यों उराहनों सुआठहू पहर है।
मीच समै तेरे उत आव गये कंठ इत,
व्यापि गयो कंठ कालकूट सो जहर है॥
आप चढ़ो सीस मोहि दीन्हों बकसीस औ,
हजार सीसवारे को लगाई अटहर है।
मोहि करि नंगा अंग-अंगन भुजंगा, बांध्यो,
ऐरो मेरी गंगा, तेरी अद्‌भुत लहर है॥७॥

सारमाला सत्य की, विचारमाला वेदन की,
भारी भागमाला है भगीरथ नरेस की।
तपमाला जन्हु की सुजपमाला जोगिन की,
आछो आप-माला या अनादि ब्रह्मवेस की॥
कहै पदमाकर प्रमानमाला पुन्यन की,
गंगाजू की धारा धनमाला है धनेस की।
ज्ञानमाला गुरु की, गुमान-माला ज्ञानिन की,
ध्यानमाला ध्रुव मौलि-माला है महेस की॥८॥

ज्ञानन में, ध्यानन में, निगम-निदानन में,
मिलत न क्यों हु हरि ही में ध्याइयतु हैं।
कहै पदमाकर न तच्छन प्रतच्छ होत,
अच्छन के आगेहू अधिच्छ गाइयतु हैं॥

इन्दिरा के मंदिर में सुनिये अनंद-भरे,
बोधे भव-फंद तहां कैसे जाइयतु हैं।
देवन के वृन्द में न पैये क्षीरसिंधु में,
सुगगाजल-बिंदु में गुबिंद पाइयतु हैं ॥८॥

लोचन असम, अंग भसम चिता की लाइ,
तीनों लोक-नायक सो कैसे कैं ठहरतो ?
कहै पदमाकर बिलोकि इमि ढंग जाके,
वेदहू पुरान मान कैसे अनुसरतो ?
बांधे जटा-जूट बैठि परवत कूट माहिं,
महा कालकूट कहो कैसे कैं ठहरतो ?
पीवे नित भंगै, रहै प्रेतन के संगै ऐसे,
पूछतो को नंगै जो न गंगै सीस धरतो ॥१०॥

सूधे भये जे हैं नर गंगा के अन्हाइये को,
कामो बदनामो भामो केयक करोर हैं।
कहै पदमाकर त्यों तिनको अवाइन के,
माचि रहे जोर सुरलोकन में सोर हैं॥
बार-बार हाटसो लगाये लखें घाट-घाट,
बाट हेरें तीर में कबे धों तन बोर हैं।
एक ओर गरुड़, सुहंस एक ओर ठाढ़े,
एक ओर नांदिया बिमान एक ओर हैं ॥११॥

योगहु में, भोग में, वियोग में, संयोगहु में,
रागहु में, रस में न नेकौ बिसराइये।
कहै पदमाकर पुरी में पुन्य, रौरव में,
फलन में फैलि-फैलि गैलन में गाइये॥
बैरिन में, बन्धु में, बिथा में, बंसवारन में,
विषय में रनहु में जहां-जहां जाइये।
सोचहु में सुख में सुरौ में साहिबौ में कहु
"गङ्गा-गङ्गा-गङ्गा" कहि जनम बिताइये ॥१२॥

महाराज दिलीप को नन्दिनी का वरदान देना

[लाला सीताराम (सं० १९१५—१९९२ वि०)—संस्कृतके नाटकोंके अनुवादके लिये राय बहादुर लाला सीताराम सदा आदरके साथ स्मरण किये जायंगे। भारतेन्दुकी मृत्युसे दो वर्ष पहिले ही इन्होंने संस्कृत काव्योंके अनुवादमें लग्गा लगाया था। इसके बाद धीरे धीरे नाटकोंका अनुवाद कर डाला। इनकी भाषा बहुत सीधीसादी, सरल और आडम्बरशून्य है। संस्कृतका भाव उसमें इस ढंगसे लाया गया है कि कहीं जटिलता नहीं आने पायी है।]

चौपाई

भये प्रभात धेनु ढिग जाई।
पूजि रानि माला पहिराई॥

बच्छ पियाइ बांधि तब राजा ।
खोल्यो ताहि चरावन काजा ॥
परत धरनि गोचरण सुहावन ।
ज मग धूरि होत अति पावन ॥
चलो भूपतिय सोइ मग माहीं ।
स्मृति-श्रुति-अर्थ संग जिमि जाहीं ॥
चौ सिन्धुन थन रुचिर बनाई ।
धरनिहिं मनहुं बनी तहं गाई ॥
प्रिया फेरि अवधेश कृपाला ।
रच्छा कीन्ह तासु तेहिं काला ॥
व्रत महं चले गाय कर आगे ।
सेवक शेष सकल नृप त्यागे ॥
इक केवल निज वीर्य्य अपारा ।
मनु-सन्तति-तन-रच्छनहारा ॥
कबहुंक मृदु तृन नोचि खिलावत ।
हांकि मांछि कहुं तनहिं खुजावत ॥
जो दिशि चलत चलत सोइ राहा ।
यहि विधि तेहि सेवत नरनाहा ॥
जहं बैठो सोइ धेनु अनूपा ।
बैठे तहहिं अवधपुरभूपा ॥
खड़े ताहि ठाढ़ी नृप जानी ।
चले चलत धेनुहि अनुमानी ॥

पियत नीर कीन्हो जलपाना।
रहे तासु संग छांह समाना॥
राजचिह्न यद्यपि सब त्यागी।
तऊं तेजबस नृप सोइ लागी॥
छिपि दान रेखा के संगा।
होत मनहुं मद-मत्त मतंगा॥
केश लता सन बाँधि बनाये।
बन बिचर्यो धनु बान चढ़ाये॥
ऋषय-धेनु रचक जनु होई।
आयो पशुन सुधारन सोई॥
बरुन सरिस धरि तेज प्रभाऊ।
चले यदपि सेवक बिन राऊ॥
तरु पंछिन करि शब्द सुहावा।
जनु चहुं दिशि जय-घोष सुनावा॥
जानि निकट कोशलपति आये।
फूल वायु-बस लता गिराये॥
जिमि नरेश निज पुर जब आवहिं।
धान नगर-कन्या बरसावहिं॥
चले जदपि नृप कर धनु धारी।
तउं दयाल तेहि हरनि बिचारी॥
निरखत तासु शरीर मनोहर।
लोचन फल पायो तेहि अवसर॥

भरि भरि पवन रन्ध्रयुत बांसा ।
वेणु शब्द तब करत प्रकाशा ॥
बनदेविन कुंजन महं जाई ।
नृपकीरति तहं गाइ सुनाई ॥
जानि घामबस म्लान शरीरा ।
लै सुगंध सोइ मिलत समीरा ॥
बनरच्छक तेहि आवत जानी ।
बिना वृष्टि बन-आगि बुझानी ॥
निबलहि सबल सतायो नाहीं ।
भे फल फूल अधिक बन माहीं ॥
करि पवित्र दिसि चहुंदिसि जाई ।
धेनु सांझ आश्रम कहं आई ॥
यज्ञ-श्राद्ध-साधन सोइ साथा ।
इमि सोहत तहं कोशलनाथा ॥
श्रद्धा मनहुं दृश्यतनु धारी ।
सोहत संत प्रयत्न मंझारी ॥
जल सन उठत बराहसमूहा ।
चलत रूख-दिशि नभचरजूहा ॥
हरी घास जहं बैठ कुरंगा ।
चल्यो लखत सोइ सौरभि संगा ॥
एक भरे थनभार दुखारी ।
धरे शरीर एक अति भारी ॥

मन्द चाल सन दोउ तहं आई।
तपवन-शोभा अधिक बढ़ाई॥
चलत वसिष्ठ-धेनु के पाछे।
लौटत अवधभूप छवि आछे॥
प्यासे दृगन विलास विसारी।
लख्यो ताहि मगधेस-कुमारी॥
आगे खड़ी रानि मग माहीं।
पीछे भूप मनहुं परछाहीं॥
सोहत बीच धेनु यहि भांती।
सन्ध्या सङ्ग मनहुं दिन राती॥
अछतपात्र कर धरे सयानी।
फिरीं गाय चहुं दिसि तब रानी॥
चरन वन्दि गो-माथ बिशाला।
पूज्यो अवध-रानि तेहि काला॥
मिलन हेत बच्छहिं अकुलानी।
यद्यपि रहीं धेनु गुनखानी॥
पूजन काज रहीं सोइ ठाढ़ी।
सो लखि प्रीति भूप-मन बाढ़ी॥
समरथ चहत देन फल जेही।
प्रथम प्रसाद जनावत तेही॥
पुनि सन्ध्या विधि नृप निपटाई।
सादर गुरुपदकमल दबाई॥

जिन निज भुजबल शत्रु गिराये ।
दुहन अन्त गो-सेवन आये ॥
पुनि पत्नी संग भूप दिलीपा ।
धारि धेनु आगे बलि दीपा ॥
सोये तहं तेहि सोवत जानो ।
जागे जगो धेनु अनुमानी ॥
सन्तति हित सेवत यहि भांती ।
बीते त्रिगुणसप्त दिन राती ॥
भक्त-चित्त परखन एक बारा ।
हिमि गिरि-गुहा धेनु पशु धारा ॥
मनहुं न सकहिं जन्तु यहि मारी ।
यह नरेश मन माहिं बिचारी ॥
नग छबि लगे लखन नरराई ।
धेनुहिं धरेउ सिंह इक धाई ॥
तड़पत सिंह गुहा के द्वारा ।
भयो तुरत तहं शब्द अपारा ॥
भूप-दृष्टि भूधर-पति लागी ।
परी धेनु पर नग-दिसि त्यागी ॥
सिंहहि लख्यो धेनु पर कैसा ।
गेरू-गुहा लोध तरु जैसा ॥
भयो क्रोध नाहर-बध काजा ।
खैंचन चह्यो तीर तब राजा ॥

नख-छवि कंक पत्र महं डारो।
अंगुरिन विशिख-पुंख तहं धारो॥
हरि मारन हित खैंचत बाना।
रह्यो दच्छिन कर चित्र समाना॥
लखि अपराधिहि सौंहहि ठाढ़ा।
अवधनरेश-क्रोध अति बाढ़ा॥
विवस नाग सम मन्त्र-प्रभाऊ।
रह्यो खतेजन कोशल-राऊ॥
मृगपति सरिस तेज-बल-धारी।
भयो चकित निज दसा विचारी॥
मनु-कुल-केतु-अचर्ज बढ़ाई।
बोल्यो हरि नर-बोलि बनाई॥
"बस! नरेश! श्रम व्यर्थ तुम्हारा।
लगत न मोहिं चलहु हथियारा॥
जदपि वायु, तरु-मूल उखारहि।
पै नहिं सकत हिलाइ पहारहि॥
जासु पीठ वृष चढ़त पुरारी।
पावन करत चरन नित धारी॥
जानु निकुम्भ-मित्र मोहिं चेरा।
कुम्भोदर त्रिभुवनपति केरा॥
देवदार जो लखहु सुजाना।
तेहि मानत हर पुत्र समाना॥

जो पाछे पय पियो कुमारा ।
यह सोइ पय-रस-चाखनहारा ॥
एक बार कनपटी खुजाई ।
तासु काल बन-गजन गिराई ॥
भा गिरिजहिं लखि सोच अपारा ।
असुर-अस्त्र जिमि लगे कुमारा ॥
तब मन मोहिं बनाइ मृगराजा ।
दै आये पशु भोजन काजा ॥
नित बन-गजन डरावन हेतू ।
राख्यो गुहा मोहिं वृषकेतू ॥
जानि समय मम क्षुधा निवारन ।
भेजो नाथ मोहिं यह पारन ॥
अहो भूप गुरु-पद-अनुरागी ।
अब फिरि जाहु लाज सब त्यागी ॥
जो न शस्त्र सन रच्छन-जोगा ।
शक्ति-दोष तहं देहिं न लोगा" ॥
सुनि यहि भांति गर्व-रस-सानी ।
कोशलपति मृगपति की बानी ॥
ईश-प्रभाव सोच सर जानी ।
कीन्ह न मन कछु भूप गलानी ॥
सर-प्रयोग महं पहिलेहि बारा ।
निज श्रम भूपति व्यर्थ विचारा ॥

मारत वज्र मनहुं सुरनाथा ।
भयो शम्भु-दृग-बस जड़ हाथा ॥
बोले "विवस वचन मृगराजू ।
सदा हंसत सुनि सन्त समाजू ॥
तउ तोहिं सर्वज्ञ विचारी ।
कह्यो सुनिय हरि विनय हमारी ॥
रचि पालत जो जगहिं संहारत ।
को कहु तासु वचन नर टारत ॥
पै यजमान-पूज्य-गुरु घाती ।
सौंहहि नसत लखौं केहि भांती ॥
ह्वै कृपाल मम देहहि खाई ।
अब छोड़य निवृत्त मृगराई ॥
घर महं वच्छ-मिलन-अनुरागी ।
देहु ऋषीस-धेनु यह त्यागी" ॥
दसन-ज्योति गिरि-खोहन केरा ।
पंचानन तब नासि अंधेरा ॥
भूतनाथ-अनुचर मुसुकाई ।
बोल्यो बचन "सुनहु नरराई ॥
भोगहु जगत अकंटक राजू ।
लहे रूप गुण वय सुख-साजू ॥
तजत थोर हित बहु निज देहा ।
अहसि मूढ़मति नहिं संदेहा ॥

जो दयाल तो लखु मन माहीं ।
बचत गाय जो भूप नसाहीं ॥
कोटि विघ्न सन धारत प्राना ।
प्रजा पालिये पिता समाना ॥
जो इक गाय-नाम अपराधा ।
लखि गुरु कोप होत मन बाधा ॥
कुम्भ-सरिस थन की सत गाई ।
दै तेहि सकिय नरेस मनाई ॥
यहि सन मन फल भोगन हेतू ।
राखिय देह भानु-कुल-केतू ॥
महि महं स्वर्ग कहावत सोई ।
ऋद्धि समेत राज जहं होई" ॥
भयो मौन नाहर अस भाखी ।
सुनत मनहुं मोद भूधर साखी ॥
करि प्रति-शब्द गुहन अस लागा ।
जनु सोउ कह्यो भूप अनुरागा ॥
सुनि हरिवचन अवध-पुर पालक ।
बोल्यो शत्रु-हन्द-दल-घालक ॥
धेनुहि सिंह-काल-बस देखी ।
उपजत नृपमन कृपा बिसेखी ॥
"क्षत्रियशर्थ सिद्ध जग सोई ।
क्षत सन सुजन बचावै जोई ॥

धिक सो राज छत्रिय-गुन-हीना ।
वृथा अजस बस प्रान मलीना ॥
ह्वै हैं मुनि प्रसन्न केहि भाँती ।
दीन्हेउ सकल धेनु की जाती ॥
निश्चय लखिय सिंह, मन माहीं ।
कामधेनु सन यह कम नाहीं ॥
छुइ न सकत यहि हरि संसारा ।
हरप्रभाव तुम कीन्ह प्रहारा ॥
अब मम उचित धर्म लखु एही ।
दै निज देह बचावौं तेही ॥
तव अहार मुनि कर मख-काजा ।
रहिहैं तोउ अविघ्न मृगराजा ॥
तुमहुं मित्र यह लखहु बिचारी ।
देवदारु यह थाति तुम्हारी ॥
रच्छ्य नासि बिनु आप नसाने ।
स्वामि सौंह किमि जाहि सयाने ॥
बधत मोहिं लागति जो दाया ।
मों जस-देह राखु मृग-राया ॥
निश्चय नास देह कर जानत ।
मो सम तनहि तुच्छ करि मानत ॥
जन-सम्बन्ध सकल जग माहीं ।
संबादहि सन होत लखाहीं ॥

भयो मलिन मन बन महं सोऊ ।
हैं यहि हेतु मित्र हम दोऊ ॥
प्रथम विनय मम मृग-पति टारन ।
उचित न तोहि मित्र यहि कारन ॥"
"जो तुम चहहु" कह्यो सुनि नाहर ।
खुलो नरेश-बांह तेहि अवसर ॥
डारि अस्त्र अवधेस महाना ।
हरिहि दीन्ह तन पिंड समाना ॥
झुके सीस तहं सिंह प्रहारा ।
जोहत छन छन भूप उदारा ॥
करि जय जय नभ-फूल सुहावा ।
विद्याधर नृप पर बरसावा ॥
"उठिय वत्स" सौरभि की बानी ।
सुनत नरेश अमिय-रस सानी ॥
उठि निज मातु सरिस तेहि ठामा ।
ठाढ़ो लखो धेनु अभिरामा ॥
कह्यो धेनु तेहि चकित निहारो ।
"मैं परखो नृप, भक्ति तुम्हारो ॥
जो मोहि यमहु सकत हनि नाहीं ।
ताहि जन्तु केहि लेखे माहीं ॥
मांगिय वर प्रसन्न मोहिं जानो ।
लखि तव भक्ति भूप गुनखानो ॥

मैं न होउं साधारन गाई।
गनु मोहिं काम-धेनु नरराई"॥
निज बल-बीर-प्रसिद्ध महीसा।
दोउ कर जोरि नाय पद सीसा॥
बोले "मातु अनुग्रह कीजै।
ह्वै प्रसन्न मोहिं यह बर दीजै॥
मिलै मागधी सन सुत सोई।
चहुं दिसि विदित जासु जस होई"॥
करि पूरन नरेस अभिलाषा।
"एवमस्तु" सौरभि तहं भाषा॥
दुहि मम दूध पत्र महं राऊ।
पिय लहु सुत इक अमित-प्रभाऊ"॥
मख हित दुहि पुनि बच्छ पियाई।
शेष दूध ऋषि-आयसु पाई॥
चाहहुं करन मातु मैं पाना।
रच्छित मह्हि षट-भाग समाना"॥
सुनि यहि भांति अवधपति-बानी।
मुनिवर-धेनु अतिहि हरषानी॥
भूधर-राज-गुहा पुनि त्यागी।
लौटी धेनु भूप संग लागी॥
अति प्रसन्न गुरु सन नरदेवा।
विकसत बदन कह्यो सब भेवा॥

लखि पति मुदित सफल अनुमाना।
तिनहिं कहे रानी सब जाना॥
धेनुदूध पुनि विधि-अनुरूपा।
पियो रानि संग कोशल-भूपा॥
भये प्रभात वसिष्ठ मुनीसा।
तिनहिं देइ प्रस्थान-असीसा॥
कह्यो "भूप अब अवधहिं जाहू।
भोगहु जन्म सुकीरति लाहू"॥
सुनि यहि भांति देवमुनि बैना।
रानी सहित भूप गुन-ऐना॥
धेनु बच्छ संग यज्ञ-कृशानुहि।
तिय समेत मुनि मन-तम-भानुहि॥
करि प्रदच्छिणा रानि समेता।
चले अवध दिशि शील-निकेता॥
देत वेग हित अनंद अपारा।
करत मधुर धुनि रथ असवारा॥
पुत्र-काज व्रत बस कृश अंगा।
चले दिलीप मागधी संगा॥
बढ़त उछाह दरस बिनु पाये।
तेहि उधारि दृग टकी लगाये॥
पावत प्रजा अनन्द विसेषा।
तेहि नव चन्द सरिस तब देखा॥

चहुं दिसि नगर लोग जस गावत ।
रथ ऊपर शुचि ध्वजा उड़ावत ॥
धरे इन्द्र सम तेज विशाला ।
कोसल नगर पैठि महिपाला ॥
निज भुज शेष सरिस बल सारा ।
धर्‍यो बहोरि भूप महिभारा ॥

दोहा

तेज अत्रि-मुनि-नयनकर, जिमि लीन्हों आकास ।
लीन्ह देवसरि संग ज्यों, शंकर-ज्योति-उजास ॥
लोकपाल-शुचि-तेज-मय, प्रबल तेज-गुन-खानि ।
नरपति-कुल की वृद्धि हित, धर्‍यो गर्भ तिमि रानि ॥

रंक-रोदन

[पं॰ नाथूराम शंकर शर्म्मा (सं॰ १९१६—१९९० वि॰)—ये हरदुआ गंज जिला अलीगढ़ के रहनेवाले गौड़ ब्राह्मण थे। हिन्दीके अच्छे कवियोंमें इनकी गणना है। इनकी कविताएं खड़ीबोली के प्रेमियोंके लिये बड़े आदरकी वस्तु हैं। समस्यापूर्त्तिमें ये बड़े सिद्धहस्त थे। ये उर्दू में भी कविता करते थे।]

क्या शंकर प्रतिकूल काल का अंत न होगा ?
  क्या मंगल से मेल मृत्युपर्यन्त न होगा ?
क्या अनुभूत दरिद्र-दुःख अब दूर न होगा ?
  क्या दाहक दुर्दैव-कोप कर्पूर न होगा ? ॥१॥

होकर मालामाल पिता ने नाम किया था ।
  मैंने उनके साथ न घर का काम किया था ॥
विद्या का भरपूर अटल अभ्यास किया था ।
  पर औरों की भांति न कुछ भी पास किया था ॥२॥

उद्यम की दिनरात कमान चढ़ी रहती थी ।
  यश के शिर पर वर्ण-उपाधि मढ़ी रहती थी ॥
दान-मान की ज्योति अखंड जगी रहती थी ।
  भिखमंगों की भीड़ सदैव लगी रहती थी ॥३॥

जीवन का फल पूज्य पिता जी पाय चुके थे ।
  कर पूरे सब काम कुलीन कहाय चुके थे ॥
सुन्दर स्वर्ग समान विलास बिसार चुके थे ।
  हम सब उनका अंत अनंत निहार चुके थे ॥४॥

बांध बाप की पाग बना मुखिया घर का मैं ।
  केवल परमाधार रहा कुनबे भर का मैं ॥
सुख से पहिली भांति निरंकुश रहता था मैं ।
  क्या करता है कौन, न कुछ भी कहता था मैं ॥५॥

जिनका संचित कोश खिलाया-खाया मैंने।
  करके उनको छोड़ न द्रव्य कमाया मैंने॥
लट रहे थे लोग, न छल पहचाना मैंने।
  घाटे का परिणाम कठोर न जाना मैंने॥६॥

बिगड़े चाकर चोर पुरानी बान बिगाड़ी।
  दिया दिवाला काढ़, बनी दूकान बिगाड़ी॥
आधे दाम चुकाय बड़ों की बात बिगाड़ी।
  मुझ से किया बिगाड़, न अपनी घात बिगाड़ी॥७॥

अटके डिगरीदार, किसी ने दाम न छोड़े।
  छीन लिये धन-धाम-ग्राम, आराम न छोड़े॥
हाय! किसी के पास विभूषण-वस्त्र न छोड़े।
  नाम रहा निरुपाधि, पुलिस ने शस्त्र न छोड़े॥८॥

न्यायालय में जाय दरिद्र कहाय चुका हूं।
  सब देकर 'इनसालवेंट' पद पाय चुका हूं॥
अपने घर की आप विभूति उड़ाय चुका हूं।
  सर्वनाश से हाय न पिंड छुड़ाय चुका हूं॥९॥

बैठ रहे सुख मोड़ पुराने आनेवाले।
  लेते नहीं प्रणाम लूट कर खानेवाले॥
देते हैं दुर्वाद बड़ाई करनेवाले।
  लड़ते हैं बिन बात अड़ी पर मरनेवाले॥१०॥

कविता-प्रेमी लोग न अब 'सत्कवि' कहते हैं।
हा ! न विश्व विज्ञान-गगन का रवि कहते हैं॥
धर्मधुरंधर धीर नहीं गुरुजन कहते हैं।
मुझ को सब कङ्गाल-धनी निर्धन कहते हैं॥११॥

वित्त बिना विख्यात विरद विपरीत हुआ है।
मन मेरा निश्शंक महा भयभीत हुआ है॥
कंगाली की मार पड़ी, रस भङ्ग हुआ है।
जीवन का मग हाय विधाता! तङ्ग हुआ है॥१२॥

प्रतिभा को प्रतिवाद प्रचंड लताड़ चुका है।
आदर को अपमान पिशाच पछाड़ चुका है॥
पौरुष का शिर नीच निरुद्यम फोड़ चुका है।
हाय! हर्ष का रक्त विषाद निचोड़ चुका है॥१३॥

दरसे देश उदास, जाति अनुकूल नहीं है।
शत्रु करें उपहास, मित्र सुखमूल नहीं है॥
छूटे नातेदार, किसी से मेल नहीं है।
घर में हाहाकार खुशी का खेल नहीं है॥१४॥

मङ्गल को रिपु घोर अमङ्गल घेर रहा है।
त्रास-त्रास के बीज विनाश बखेर रहा है॥
दीन मलीन कुटंब कर्म को कोस रहा है।
मेरा कण्ठ अदम्य दरिद्र मसोस रहा है॥१५॥

दुखड़ों की भरमार, यहां सुखसाज नहीं है।
किसका गोरस-भात, पिसान अनाज नहीं है॥
चिथड़ा भी भरपूर किसी के पास नहीं है।
कुनबे भर में कौन अधीर उदास नहीं है॥१६॥

बालक चोखे खान-पान पर अड़ जाते हैं।
खेल-खिलौने देख पिछाड़ी पड़ जाते हैं॥
पर मनमानी वस्तु बिना बस रह जाते हैं।
हाय! हमारे काढ़ कलेजे सो जाते हैं॥१७॥

सिर से संकट-भार उतार न लेगा कोई।
मुझको एक छदाम उधार न देगा कोई॥
करुणा कर कुलवीर कृपा न करेगा कोई।
हम दीनों का पेट न हाय भरेगा कोई॥१८॥

फूल-फूलकर फूल फली फल खानेवाले।
नाना व्यंजन पाक प्रसादी पानेवाले॥
दूध रसाला आदि सुधारस पीनेवाले।
हाय! बने हम शाक-चनों पर जीनेवाले॥१९॥

घर में कुरते कोट सलूके सिल जाते हैं।
बाहर से दो-चार टके बस मिल जाते हैं॥
जो कुछ पैसे हाथ हमारे आ जाते हैं।
उन सब का सामान मंगाकर खा जाते हैं॥२०॥

लड़के लकड़ी बीन-बीनकर ला देते हैं।
ईंधन भर का काम अवश्य चला देते हैं॥
वृद्ध चचा दो-तीन बार जल भर देते हैं।
मांग-मांगकर छाछ महेरी कर देते हैं॥२१॥

छप्पर में बिन बांस घुने ऐरंड पड़े हैं।
बरतन का क्या काम, घने घटखंड पड़े हैं॥
खाट कहां, छै-सात फटे-से टाट पड़े हैं।
चक्की पीसे कौन, बिना भिड़ पाट पड़े हैं॥२२॥

जाड़े का प्रतियोग, न उष्ण-विलास मिलेगा।
गरमी का प्रतिकार न शीतल वास मिलेगा॥
घेर रही बरसात, न सूखा ठौर मिलेगा।
इस खंडहर को छोड़ कहां घर और मिलेगा॥२३॥

कर-कर केहरि-नाद बलाहक बरस रहे हैं।
अस्थिर विद्युद्दृश्य दसों दिस दरस रहे हैं॥
गंदला पानी छेद छत्त के छोड़ रहे हैं।
इन्द्रदेवजी टांग आप की तोड़ रहे हैं॥२४॥

दिया जले किस भांति, तेल को दाम नहीं है।
काटें मच्छर डांस, कहीं आराम नहीं है॥
टूट पड़े दीवार, यहां संदेह नहीं है।
करदे पनियाढार, नहीं तो मेह नहीं है॥२५॥

बीत गई अब रात, अंधेरा दूर हुआ है।
संकट का कुल हाय न चकनाचूर हुआ है॥
आज तीसरा रुद्ररूप उपवास हुआ है।
हा! हम सब का घोर नरक में वास हुआ है॥२६॥

हिन्दूपन के पंथ-मतों में मेल नहीं है।
सत्य सनातनधर्म कपट का खेल नहीं है॥
शिष्टों का सत्कार कहीं अवशिष्ट नहीं है।
धोखा देकर माल उठाना इष्ट नहीं है॥२७॥

वैदिक दल में दान-मान कुछ भी न मिलेगा।
प्रतिदिन तीन छटांक हवन को घी न मिलेगा॥
कर्महीनता देख पुण्य-परिषद न मिलेगा।
रोटी-दाल समेत 'महाशय' पद न मिलेगा॥२८॥

सामाजिक बल पाय फूल-सा खिल सकता हूं।
योग-समाधि लगाय ब्रह्म से मिल सकता हूं॥
धर्म धार संसार-सिंधु से तर सकता हूं।
हा! पर वस्त्राहार बिना क्या कर सकता हूं॥२९॥

जो जगती पर बीज पाप के बो न सकेगा।
जिसका साहस सत्य धर्म को खो न सकेगा॥
जो विधि के विपरीत कभी कुछ कर न सकेगा।
रो-रोकर वह रंक कहां तक मर न सकेगा॥३०॥

काश्मीरसुखमा

[श्रीधर पाठक (सं० १९१६—१९८५ वि०)—ये ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों ही में कविता करते थे। संयुक्त प्रान्तके लाट साहबके दफ्तरमें ऊंचे पद पर प्रतिष्ठित रहने पर भी इन्होंने अच्छी साहित्यसेवा की। अंगरेजी कवि गोल्डस्मिथकी तीन प्रसिद्ध कविताओंके पद्यानुवाद—'एकान्तवासी योगी' (खड़ीबोली), 'ऊजड़ ग्राम' (ब्रजभाषा), 'श्रान्तपथिक' (खड़ीबोली)—द्वारा इनकी बड़ी प्रसिद्धि हुई। देशप्रेम सम्बन्धी कविताएं भी इनकी उत्तम हैं। इनकी 'काश्मीर-सुखमा', 'जगत सचाई सार' आदि रचनाएं भी अच्छी हैं।]

धनि धनि श्रीकश्मीर-धरनि मन-हरनि सुहावनि
धनि कश्यप-जस-धुजा, विश्वमोहिनि मनभावनि
धन्य आर्य-कुल-धर्म-धर्म-प्राचीन-पीठ-थल
धन्य सारदा-सदनि अवनि, त्रैलोक्य-पुन्य-फल
धन्य पुरातन प्रथित धाम, अभिराम अतुल-छवि
स्वर्ग-सहोदरि धरनि, बरनि हारे कोविद कवि

धन्य यहां की धूलि, धन्य नीरद, नभ, तारे
धन्य धवल हिमशृङ्ग, तुङ्ग, दुर्गम, दृग-प्यारे
धन्य नदी नदस्रोत, विमल गंगोद-गोत जल
सीतल सुखद समीर, वितस्ता तीर स्वच्छ-थल
धनि उपवन, उद्यान, सुमन-सुरभित वनवीथी
खिलि रहीं चित्र विचित्र, प्रकृति के हाथनु चीती

प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप संवारति
पल पल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारति
विमल-अम्बु-सर मुकुरन महं मुख-बिम्ब निहारति
अपनी छवि पै मोहि आपही तन मन वारति
सजति, सजावति, सरसति, हरसति, दरसति प्यारी
बहुरि सराहति भाग पाय सुठि चित्तरसारी
विहरति विविध-विलास-भरी जोवन के मद सनि
ललकति, किलकति, पुलकति, निरखति, थिरकति, बनि ठनि
मधुर मंजु छवि पुंज छटा छिरकति बन कुंजन
चितवति, रिझवति, हसति, डसति, मुसिक्याति, हरति मन

यहं सुरूप सिंगार रूप धरि धरि बहु भांतिन
सर, सरिता, गिरि, सिखर, गगन, गह्वर, तरुवर, तृन
पूरन करिबे काज कामना अपने मन की
किंकरता करि रह्यो प्रकृति-पंकज-चरनन की

चहुं दिसि हिम गिरि-सिखर, हीर-मनि मौलि-अवलि मनु
स्रवत सरित-सित-धार, द्रवत सोइ चन्द्रहार जनु
फल फूलन छवि छटा छई जो वन उपवन की
उदित भई मनु अवनि-उदर सों, निधि रतनन की
तुहिन-सिखर, सरिता, सर, विपिनन की मिलि सो छवि
छई मंडलाकार, रही चारहुं दिसि यों फबि

मानहु मनिमय मौलि-माल-आकृति अलबेली
बांधी विधि अनमोल गोल भारत-सिर सेली

अर्द्ध चन्द्र सम सिखर-स्रैनि कहुं यों छवि छाई
मानहुं चन्दन-धौरि, गौरी-गुरु, खौरि लगाई
पुनि तिन स्रैनिन बीच वितस्ता रेख जु राजति
वैष्णव"श्री" अरु शिव-त्रिसूल की आभा भ्राजति

हिम स्रैनिन सौं घिर्‍यौ अद्रिमंडल यह रूरौ
सोहत द्रोनाकार सृष्टि-सुखमा-सुख-पुरौ
बहु विधि दृश्य अदृश्य कला कौशल सौं छायौ
रत्नन निधि नैसर्ग मनहु विधि दुर्ग बनायौ
अथवा विमल बटोर विश्वको निखिल निकाई
गुप्त राखिवे काज सुदृढ़ सन्दूक बनाई
के यह जादूभरी विश्वबाजीगरथैली
खेलत में खुलि परी शैल के सिर पै फैली
पुरुष प्रकृति कौं किधौं जबै जोवन-रस आयौ
प्रेम-केलि रस-रैलि करन रंग-महल सजायौ
खिली प्रकृति-पटरानी के महलन फुलवारी
खुली धरी कै भरी तासु सिंगार पिटारी
के यह विकसित ब्रह्म-वाटिका की कोउ क्यारी
योगिराज ने यहां योग बल ऐंचि उतारी

कै सामग्रीसहित भरवीचक्र मझारी
परिकल्पित करि धरी शक्तिपूजन की थारी
किधौं चढ़ायो धाता ने भारत के मस्तक
मायामालिनि-रच्यो चारु कुसुमन को गुच्छक
काम-धेनु कै रवि-हय की खुर-छाप सलोनी
कै वसुधा प सुधा-धार-ब्रह्मद्रव-द्रोनी

परमपुरुष को पटरानो माया को स्यन्दन
मंडप छत्र उतारि धर्यो, उतर्यो कै नन्दन
कै जब लै शिव चले दक्ष-तनया के अंगन
गिरि शृङ्गन गिरि खिस्यो प्रिया के कर को कंगन
विष्णु-नाभि तें उग्यो सुन्यो जो कमल सहसदल
कै यह सोई सुभग स्वयम्भू को सुजन्म-थल
प्रकृति नटी को पटीरहित प्रगट्यो नाटक-घर
कै शिव-तंत्र सटीक खुल्यौ विलसत टिखटी पर
कै त्रैलोक्य-विभूति-भरित अवधूत-कमंडल
कै तप-पुंज-प्रसूत विश्व-शोभा-श्री मंडल

सुरपुर अरु सुरकानन की सुठि सुन्दरताई
त्रिभुवनमोहनकरनि कविनु बहु बरनि सुनाई
सो सब कानन सुनी, किन्तु नैनन नहिं देखी
जहं तहं पोथिन पढ़ी, पै सु परतच्छ न पेखी

सो कवियन जो कह्यो कलित सुरलोकनिकाई
याहीकों अवलोकि एक कल्पना बनाई

सुरपुर अरु कश्मीर दोउन में को है सुन्दर
को सोभा को भौन रूप को कोन समुन्दर ?
काकों उपमा उचित दैन दोउन में काको
याकों सुरपुर को अथवा सुरपुर कों याको ?
याकों उपमा याही की मोहि देत सुहावै
या सम दूजो ठोर सृष्टि में दृष्टि न आवै
यही स्वर्ग सुरलोक, यही सुरकानन सुन्दर
यहिं अमरन को ओक, यहीं कहुं बसत पुरन्दर

सो श्रीधर-दृग बसी प्रेम-अम्बद-रस-दैनो
पुन्यअवनि सुखसवनि, अलौकिक-सोभा-सैनो
पैसु यथारथ महिमा नहिं मोहि शक्ति बखानन
सहसा नहिं कहि सकहिं सकहिं सहसन सहसानन
कविगन कों कल्पना-कल्प तरु, काम-धेनु सी
मुनिगन कों तपधाम, ब्रह्म-आनन्द-ऐनु सी
रसिकन कों रसथान, प्रान, सर्वस, जीवन, धन
प्रकृति प्रेमिनी कों सुकेलि-क्रीड़ा-कलोल-बन
ताहि रसिकवर सुजन अवसि अवलोकन कीजे
मम समान मन-मुग्ध ललकि लोचन-फल लीजे

———

श्रीरामस्तोत्र

[बाबू बालमुकुन्द गुप्त (सं० १९२२—१९६४ वि०)—ये एक प्रतिभाशाली निपुण सम्पादक तथा गद्य और पद्य दोनोंके उच्चकोटिके लेखक थे। फारसी उर्दू के भी पंडित थे। पठनकालसे ही 'अवधपंच' आदि उर्दू पत्रोंमें लेख दिया करते थे। लेख लिखनेमें ये प्रख्यात हो गये और सं० १९४४ में 'अखबार-ए-चुनार' के सम्पादक नियत हुए। यहीं से इनका साहित्यिक जीवन आरम्भ हुआ। एक ही वर्ष बाद लाहोरके 'कोहेनूर' के सम्पादक हुए। कुछ दिनों बाद हिन्दीमें लेख लिखने लगे, और सं० १९४६ में कालाकांकर के 'हिन्दोस्थान'के सहकारी सम्पादक हुए। इसके बाद कई वर्षोंतक हिन्दी बंगवासी के सम्पादक रहे। सं० १९५५ में 'भारतमित्र'के सम्पादनका भार लिया और थोड़े ही दिनोंमें उसे भारतका प्रधान हिन्दी पत्र बना दिया। हिन्दी भाषाके भाण्डारमें कुछ ऐसे अनमोल रत्न छोड़ गये हैं जिन्होंने इन्हें अमर बना रखा है। इनकी भाषा बड़ी ही सरल, सरस, स्वच्छ, चटकीली और दिलमें चुभनेवाली होती थी। इनकी शैली ही निराली है। इनके लेखोंमें व्यंगके साथ साथ मनोरंजनकी सामग्री भी कम नहीं मिलती। ये बड़े ही मिलनसार और हास्यप्रिय थे। हास्य-प्रियताके नमूने भी इनके लेखोंमें बहुत हैं। राजनैतिक और सामाजिक विषयोंपर इनके लेख अनोखे ढंग के होते थे। इनका 'शिवशम्भुका चिट्ठा' बड़ा प्रसिद्ध है। समालोचक भी ये अद्वितीय थे। इनकी समालोचनासे उस समयके प्राय:

सभी लेखक डरते थे, क्योंकि उचित बात कहनेमें वे जरा भी नहीं हिचकते, और बड़ी निर्दयताके साथ उनके दोषोंको सर्वसाधारणके सामने प्रकट कर देते थे। केवल ४२ वर्षकी अवस्थामें हिन्दी प्रेमियोंको शोकाकुल कर परलोकवासी हुए।]

अब आये तुम्हरी सरन, "हारे के हरि नाम"।
साख सुनि रघुवंशमणि, "निर्बल के बल राम" ॥१॥
जपबल तपबल बाहुबल, चौथो बल है दाम।
हमरे बल एको नहीं, पाहि पाहि श्रीराम ॥२॥
सेल गई बरछी गई, गये तीर तलवार।
घड़ी छड़ी चसमा भये, छत्रिन के हथियार ॥३॥
जो लिखते अरि हीय पै, सदा सेल के अङ्क।
झपत नैन तिन सुतन के, कटत कमल की डङ्क ॥४॥
कहां राज कहं पाट प्रभु, कहां मान सम्मान।
पेट हेत पायन परत, हरि तुम्हरो सन्तान ॥५॥
जिनके करसों मरन लौं, छुट्यो न कठिन कृपान।
तिनके सुत प्रभु पेट हित, भये दास दरबान ॥६॥
जहां लरैं सुत बाप संग, और भ्रात सों भ्रात।
तिनके मस्तक सों हटै, कैसे पर की लात ॥७॥
बार बार मारो मरत, बारहिं बार अकाल।
काल फिरत नित सीस पै, खोले गाल कराल ॥८॥
अब तुम सों बिनती यहै, राम गरीब नेवाज।
इन दुखियन अंखियान महं, बसै आपको राज ॥९॥

जहं मारी को डर नहीं, अरु अकाल को त्रास।
जहां करै सुख सम्पदा, बारह मास निवास ॥१०॥
जहां प्रबल को बल नहीं, अरु निबलन की हाय।
एक बार सो दृश्य पुनि, आंखिन देहु दिखाय ॥११॥
अबलौं हम जीवित रहे, लै लै तुम्हरो नाम।
सोइ अब भूलन लगे, अहो राम गुनधाम ॥१२॥
कर्म्म धर्म्म संयम नियम, जप तप जोग विराग।
इन सबको बहु दिन भये, खेलि चुके हम फाग ॥१३॥
जनबल, धनबल, बाहुबल, बुद्धि विवेक विचार।
तान मान मरजाद को, बैठे जूआ हार ॥१४॥
हमरे जाति न बनै है, नहीं अर्थ नहिं काम।
कहा दुरावैं आपसे, हमरी जाति गुलाम ॥१५॥
बहु दिन बीते राम प्रभु, खोये अपनो देस।
खोवत हैं, अब बैठ के, भाषा भोजन भेस ॥१६॥
नहीं गांव में झूंपड़ी, नहिं जङ्गल में खेत।
घर ही बैठे हम कियो, अपनो कञ्चन रेत ॥१७॥
दो दो मूठी अन्न हित, ताकत पर मुख ओर।
घर ही में हम पारधी, घर ही में हम चोर ॥१८॥
तौ ह्र आपस में लड़ैं, निसिदिन स्वान समान।
अहो! कौन गति होयगी, आगे राम सुजान ॥१९॥
घर में कलह विरोध की, बैठे आग लगाय।
निसिदिन तामें जरत हैं, जरतहि जीवन जाय ॥२०॥

विप्रन छोड़्यो होम तप, अरु छत्रिन तरवार।
बनिकन के पुत्रन तज्यो, अपनो सदव्यवहार ॥२१॥
अपनो कछु उद्यम नहीं, तकत पराई आस।
अब या भारत भूमि में, सबै बरन हैं दास ॥२२॥
सबैं कहैं तुम होन हो, हमहु कहैं हम होन।
धक्का देत दिनान को, मन मलीन तनछीन ॥२३॥
कौन काज जन्मत मरत, पूछत जोरे हाथ।
कौन पाप यह गति भई, हमरी रघुकुलनाथ ॥२४॥

लक्ष्मीपूजा

जयति जयति लक्ष्मी जयति मा जग उजियारी।
सर्वोपरि सर्वोपम सर्व्वहू तें अति प्यारी ॥
व्यापि रह्यो चहुं ओर तेज जननी एक तेरो।
तव आनन को जोति होत यह विश्व उजेरो ॥
जहं चन्द्रसुखी मुखचन्द्र का, किरनन उजियारो करें।
तहं तम न कटे युग कोटि लौं, कोटि भानु पचि पचि मरें ॥१॥
"बिन तेरे सब जगत जननि! मृतवत् अरु निसफल।"
देवन बात कही यह सांची छांड़ि छोभ छल ॥

तोहि छांड़ मा ! देवन केतो हो दुख पायो ।
सुरपति चन्द्र कुबेरहु तैं नहिं मिट्यो मिटायो ॥
जब सूखे तालू ओठ मुख, चरन गहे तव आय के ।
तब दूर भयो दुख सुरन को, रहे नैन झर लाय के ॥२॥
जा घर नहिं तव बास मात सोहो घर सूनो ।
द्वार द्वार बिडरात फिरे तव कृपा बिहूनो ॥
औरन की को कहे स्वजन जब धक्का मारैं ।
अपने घर के हो घरसों कर पकरि निकारैं ॥
नहिं भ्रात मात अरु बन्धु कोउ, निरधन को आदर करै ।
निज नारिहु मा तव कृपा बिन, आनन मोरि निरादरै ॥३॥
कोटि बुद्धि किन होहिं बिना तव काम न आवैं ।
कोटिन चतुराई तव बिन धूरहिं मिलि जावैं ॥
तहं कहं बुद्धि थिराय मात जहं बास न तेरो ।
जहां न दीपक बरे रहे केहि भांति उजेरो ॥
बहु बुद्धिमान तव कृपा बिन, बुद्धि खोय मारे फिरैं ।
केते मूरख तव लाड़िले, दूरि दूरि तिनको करैं ॥४॥
जप तप तीरथ होम यज्ञ तव बिन कछु नाहीं ।
स्वारथ परमारथ सगरो तेरे ही माहीं ॥
चले न घर को काज न पितृन अरु देवन को ।
जनम लेत तव कृपा बिना नर दुख सेवन को ॥
जय जयति अखिल ब्रह्माण्ड के, जीवनको आधार जो ।
जय जयति लच्छमी जगत की, एकमात्र सुख सार जो ॥५॥

भलो कियो री मात आप किन्हीं पुनो फेरो।
तुम्हरे आये हमरे घर को मिव्यो अंधेरो॥
तुम्हरे कारन आज मात दीपावलि बारी।
घर लोप्यो टूटो फूटी सब वस्तु संवारी॥
तुम्हरे आये तव सुतनको, आज आनन्द अपार है।
सब फूले फूले फिरत हैं, तन की नाहिं सम्हार है॥६॥
मात आपने कङ्गालन का दसा निहारो।
जिनके आंसुन भीज रह्यो तव आंचल सारो॥
कोटिन पै रह्यो उड़त पताका मा जिनके घर।
सो कौड़ो कौड़ो को हाथ पसारत दर दर॥
हा! तोसी जननी पाय कै, कङ्गाल नाम हमरो पर्‌यो।
धिक धिक जीवन मा लक्ष्मी, अब हम चाहत हैं
मर्‌यो॥७॥
गजरथ तुरग विहीन भये ताको डर नाहीं।
चंवर छत्र की चाव नाहिं हमरे उर माहीं॥
सिंहासन अरु राजपाट को नाहिं उरहनो।
ना हम चाहत अस्त्र वस्त्र सुन्दर पट गहनो॥
पै हाथ जोरि हम आज यह, रोय रोय विनती करैं।
या भूखे पापी पेट कहं, मात कहो कैसे भरैं॥८॥

पिता

एहो जगतपिता के प्रतिनिधि पिता पियारे।
मोहि जन्म दे जगत दृश्य दरसावनहारे॥
तव पद पंकज में करौं हौं बारहि बार प्रनाम।
निज पवित्र गुनगान की मोहिं दीजै बुद्धि ललाम॥१॥

यद्यपि यह सिर मेरो नहिं परसाद तिहारो।
प्रेम नेम तें तदपि चहौं तव चरननि धारो॥
गंगाजू कों अर्घ सब, है गंगहि जल सों देत।
ऐसो बाल-चरित्र मम लखि रीझौ मया समेत॥२॥

बन्दौं निश्छल नेह रावरे उरपुर केरो।
लालन पालन भयो सबै विधि जासों मेरो॥
उलटे पुलटे काम मम अरु टेढ़ो मेढ़ो चाल।
निपट अटपटे ढङ्ग नित लखि लखि रहे निहाल॥३॥

कहौं कहां लग अहो आपनो निपट ढिठाई।
तव पवित्र तन माहिं बार बहु लार बहाई॥
शुद्ध स्वच्छ कपड़ान पर बहु बार कियो मल मूत।
तबहुं कबहुं रिस नहिं करो मोहिं जानि पियारो पूत॥४॥

लाखन औगुन किये तदपि मन रोष न आन्यो।
हंसि हंसि दिये बिसारि अज्ञ बालक मोहिं जान्यो॥

कोटि कष्ट सुख सों सहे जिहि बस अनगिनतिन हानि।
कस न करौं तिहि प्रेम कौं नित प्रनत जोरि जुग पानि ॥५॥
बन्दौं तव मुख कमल मोहिं लखि नित्य विकासित।
मो सङ्ग विद्या आकृत ह्वै तुतराई भासित ॥
लाल वत्स प्रिय पूत सुत नित लै लै मेरे नाम।
सुधा सरिस रस बैन सों जो पूरित आठो याम ॥६॥
खेलत खेलत कबहुं धाय तव गरे लपटतो।
लरिकाई चञ्चलताई कै खरो चमटतो ॥
लटकि लटकि कै आपहीं हौं सम्मुख जातो घूमि।
बन्दौं सो श्रीमुख कमल जो लेतो मो मुख चूमि ॥७॥
जब तब जो कछु बालबुद्धि मेरी में आयो।
अनुचित उचित न जानि आय कै तुमहिं सुनायो ॥
हंसि हंसि ताहू पै दिये उचित ज्वाब मोहिं जान।
बन्दौं अति श्रद्धासहित सो मधुर मधुर मुसकान ॥८॥
बन्दौं तुम्हरे तरुन अरुन पंकज दल लोचन।
दया दृष्टि सौं हेरि सहज सब सोच विमोचन ॥
मेरे औगुन पै कबहुं जिन करी न तनिक निगाह।
सबहि दसा सब ठौर में नित बकस्यो अमित उछाह ॥९॥
मोहिं मुरझान्यो देखि तुरत जलसौं भरि आये।
कहुं हृष्टहु भये तहुं ममता सों छाये ॥
तरजन बरजन करतहुं पूरित पावन प्रेम।
सब दिन जो तकती हुती बहु ममता सों मम छेम ॥१०॥

खेलन हित कबहुं जब निज मीतन सङ्ग जातो ।
जब फिर के आतो मारग तकते ही पातो ॥
आवत मोहिं निहारिकेहो हरे भरे ह्वै जात ।
युगल नैन बन्दौं सोई मैं नितप्रति सांझ प्रभात ॥११॥
जिन नैनन के त्रास रह्यो मेरे मन खटको ।
पै वह खटको रह्यो पन्थ सुखसागर तट को ॥
अगनित दुरगुन दुखन ते निज राख्यो रचित मोहिं ।
काहे न वे दृग कमल मम श्रद्धा सर सोभा होहिं ॥१२॥
करौं बन्दना हाथ जोरि तव कर कमलन की ।
सब विधि जिनसों पुष्टि तुष्टि भइ या तन मन की ॥
दूध भात की कौरियां सुचि रुचि से सदा खवाय ।
इतने तें इतनो कियो जिन मोहिं मया सरसाय ॥१३॥
बड़े चावसों केस संवारत पट पहिरावत ।
जूठे कर मुख धोवत नित निज संग अन्हवावत ॥
कहुं सिसुता बस याहु मैं जब रोय उठो अनखाय ।
तब रिझवत हंसि गोद लै के देत खिलौना लाय ॥१४॥

मेरा नया बचपन

[श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान (सं० १९६१ वि०—वर्त्तमान)—ये खंडवा-निवासी ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान, बी० ए०, एल-एल० बी०, की धर्मपत्नी हैं। हिन्दी की वर्त्तमान स्त्री-कवियोंमें इनका स्थान सबसे ऊंचा है। इनकी कविताओंकी भाषा विशुद्ध और परिमार्जित तथा भाव उच्चकोटिके होते हैं। इनकी कविताएं जिनमें देशप्रेम भरा रहता है, पत्र-पत्रिकाओंमें बराबर निकला करती हैं और लोग उन्हें बड़े चावसे पढ़ते हैं।]

बार बार आती है मुझको
मधुर याद बचपन तेरी।
गया, ले गया तू जीवन की
सब से मस्त खुशी मेरी॥

चिन्ता - रहित खेलना - खाना
वह फिरना निर्भय स्वच्छन्द।
कैसे भूला जा सकता है
बचपन का अतुलित आनन्द ?

ऊंच-नीच का ज्ञान नहीं था
छुआछूत किसने जानी ?
बनी हुई थी अहा! झोपड़ी—
और चीथड़ों में रानी॥

किये दूध के कुल्ले मैंने
चूस अंगूठा सुधा पिया।
किलकारी कल्लोल मचाकर
सूना घर आबाद किया॥

रोना और मचल जाना भी
क्या आनन्द दिखाते थे!
बड़े - बड़े मोती-से आंसू
जयमाला पहनाते थे ॥

मैं रोयी, मां काम छोड़कर
आयी, मुझको उठा लिया।
झाड़ - पोंछ कर चूम - चूम
गीले गालों को सुखा दिया॥

दादा ने चन्दा दिखलाया,
नेत्र - नीर द्रुत दमक उठे।
धुली हुई मुसकान देख कर
सब के चेहरे चमक उठे॥

यह सुख का साम्राज्य छोड़कर,
मैं मतवाली बड़ी हुई ।
लुटी हुई, कुछ ठगी हुई - सी
दौड़ द्वार पर खड़ी हुई ॥

लाजभरी आंखें थीं मेरी
मन में उमंग रंगीली थी ।
तान रसीली थी कानों में
चञ्चल छैल छबीली थी ॥

दिल में एक चुभन - सी थी
यह दुनिया सब अलबेली थी ।
मन में एक पहेली थी
मैं सब के बीच अकेली थी ॥

माना मैंने युवा - काल का
जीवन खूब निराला है ।
आकांक्षा, पुरुषार्थ, ज्ञान का
उदय मोहने वाला है ॥

किन्तु यहां झंझट है भारी
युद्ध - क्षेत्र संसार बना ।
चिन्ता के चक्कर में पड़कर
जीवन भी है भार बना ॥

आजा बचपन! एकबार फिर
दे दे अपनी निर्मल शान्ति।
व्याकुल व्यथा मिटाने वाली
वह अपनी प्राकृत विश्रान्ति ॥

वह भोली - सी मधुर सरलता
वह प्यारा जीवन निष्पाप।
क्या फिर आकर मिटा सकेगा
तू मेरे मन का सन्ताप ?

मैं बचपन को बुला रही थी
बोल उठी बिटिया मेरी ।
नन्दन वन - सी फल उठी
यह छोटी - सी कुटिया मेरी ॥

'मां ओ' कहकर बुला रही थी
मिट्टी खाकर आयी थी ।
कुछ मुंह में कुछ लिये हाथ में
मुझे खिलाने आयी थी ॥

पुलक रहे थे अङ्ग, दृगों में
कौतूहल था छलक रहा ।
मुंह पर थी आह्लाद - लालिमा
विजय - गर्व था झलक रहा ॥

मैंने पूछा "यह क्या लायी ?"
बोल उठी वह "मां, काओ।"
हुआ प्रफुल्लित हृदय खुशी से
मैंने कहा—"तुम्हीं खाओ ॥"

पाया मैंने बचपन फिर से
बचपन बेटी बन आया ।
उसकी मञ्जुल मूर्ति देखकर
मुझ में नवजीवन आया ॥

मैं भी उसके साथ खेलती—
खाती हूं, तुतलाती हूं।
मिलकर उसके साथ स्वयं
मैं भी बच्ची बन जाती हूं॥

जिसे खोजती थी बरसों से
अब जाकर उसको पाया।
भाग गया था मुझे छोड़कर
वह बचपन फिर से आया॥

बालिका का परिचय

यह मेरी गोदी की शोभा
सुख-सुहाग की है लाली।
शाही शान भिखारिन की है
मनो-कामना-मतवाली॥

दीप - शिखा है अन्धकार की
घनी घटा की उजियाली।
ऊषा है यह कमल - भृङ्ग की
है पतझड़ की हरियाली॥

सुधाधार यह नीरस दिल की
मस्ती मगन तपस्वी की।
जीवित ज्योति नष्ट नयनों की
सच्ची लगन मनस्वी की॥

बीते हुए बालपन की यह
क्रीड़ा - पूर्ण वाटिका है।
वही मचलना, वही किलकना
हंसती हुई नाटिका है॥

मेरा मन्दिर, मेरी मसजिद
काबा - काशी यह मेरी।
पूजा - पाठ, ध्यान - जप - तप है
घट - घट - वासी यह मेरी॥

कृष्णचन्द्र की क्रीड़ाओं को
अपने आंगन में देखो।
कौशल्या के मातृमोद को
अपने ही मन में लेखो॥

प्रभु ईसा की क्षमाशीलता
नबी मुहम्मद का विश्वास।
जीव दया जिनवर गौतम की
आओ देखो इसके पास॥

परिचय पूछ रहे हो मुझसे,
कैसे परिचय दूं इसका?
वही जान सकता है इसको,
माता का दिल है जिसको॥